ओ३म्

भगवती-भाष्य-समलंकृतम्

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

(सचित्र)

अनुवादक, सम्पादक एवं टिप्पणिकर्ता

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

वेदरत्न, वेदमार्तण्ड

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

अयोध्याकाण्डम्

१. राम के राज्याभिषेक का निश्चय ५६
२. परिषद् द्वारा श्रीराम के राज्याभिषेक का अनुमोदन ५८
३. श्रीराम को उपदेश ६०
४. माता का आशीर्वाद ६३
५. यौवराज्याभिषेक सम्बन्धी व्रत-अनुष्ठान ६६
६. मन्थरा का परिताप ६७
७. मन्थरा-कैकेयी संवाद ६८
८. कैकेयी का कोपभवन-प्रवेश ७०
९. दशरथ द्वारा कैकेयी की अनुनय-विनय ७३
१०. कैकेयी का वर माँगना ७४
११. दशरथ का परिताप ७५
१२. दशरथ का विलाप ८०
१३. कैकेयी का उपालम्भ ८१
१४. श्रीराम को बुलाने के लिए सुमन्त्र का प्रेषण ८४
१५. श्रीराम का पिता के पास आगमन ८५
१६. राम की प्रतिज्ञा ८८
१७. कौसल्या का क्रन्दन ९०
१८. लक्ष्मण का आक्रोश ९२
१९. राम का कौसल्या को समझाना ९४
२०. दैव और पुरुषार्थ पर राम-लक्ष्मण संवाद ९५
२१. माता द्वारा वन-गमन की अनुमति ९७
२२. श्रीराम का सीता को हितोपदेश ९९
२३. सीता जी की वन-गमन के लिए याचना १०१
२४. श्रीराम द्वारा वन के कष्टों का वर्णन १०२
२५. श्रीराम द्वारा सीता को वन-गमन की अनुमति १०३
२६. लक्ष्मण को भी अनुमति १०७
२७. राम और लक्ष्मण द्वारा धन-दान १०८
२८. दशरथ-समाश्वासन ११०
२९. सुमन्त्र द्वारा कैकेयी की भर्त्सना ११३
३०. सिद्धार्थ का कैकेयी को समझना ११५
३१. वल्कल-वस्त्र-धारण ११६
३२. वन-गमन की आज्ञा ११६
३३. वन की ओर प्रस्थान १२१
३४. दशरथ का विलाप १२४
३५. नागरिकों की प्रार्थना १२५
३६. नागरिकों को भुलावा १२७
३७. नगरवासियों का विलाप करते हुए अयोध्या लौटना १२९
३८. गुह से भेंट १३०
३९. गुह और लक्ष्मण का वार्तालाप १३२
४०. गङ्गा के पार १३३
४१. राम का विलाप १३७
४२. भरद्वाज के आश्रम में १३८
४३. यमुना के पार १४०
४४. चित्रकूट में निवास १४१
४५. सुमन्त्र की वापसी १४३
४६. दशरथ-विलाप १४४
४७. कौसल्या का उपालम्भ और दशरथ का उन्हें प्रसन्न करना १४५
४८. श्रवणकुमार-वध कथा १४७
४९. दशरथ का परलोक-गमन १४९
५०. रानियों का विलाप और दशरथ के शव को तेलपात्र में रखना १५१
५१. राजा-रहित राष्ट्र की दुर्दशा का वर्णन १५२
५२. भरत-शत्रुघ्न को बुलाने के लिए दूत भेजना १५५
५३. भरत का दुःस्वप्न १५७
५४. भरत का अयोध्या के लिए प्रस्थान १५८
५५. भरत का अयोध्या में आगमन १६०
५६. भरत का सन्ताप १६१
५७. भरत द्वारा कैकेयी की निन्दा १६४
५८. भरत की शपथें १६६
५९. दशरथ का अन्त्येष्टि संस्कार १७२

६०.	कुब्जा को घसीटना	१७३
६१.	यात्रा के लिए मार्ग-शोधन	१७५
६२.	भरत द्वारा राज्य-ग्रहण से इनकार	१७६
६३.	भरत का वन को प्रस्थान और गुह से भेंट	१७८
६४.	भरत का गङ्गा के पार उतरना	१८१
६५.	भरद्वाजाश्रम में निवास	१८२
६६.	चित्रकूट के लिए प्रस्थान	१८३
६७.	लक्ष्मण का क्रोध	१८५
६८.	राम द्वारा भरत के गुणों की प्रशंसा	१८७
६९.	भरत का राम के साथ मिलन	१८९
७०.	राजनीति विषयक उपदेश	१९०
७१.	पिता का परलोकगमन सुन राम का शोक	१९६
७२.	माताओं का दर्शन	१९७
७३.	राम-भरत संवाद	१९८
७४.	राम का कथन	२००
७५.	भरत की प्रार्थना	२०२
७६.	श्रीराम का उत्तर	२०४
७७.	राम-जाबालि संवाद	२०५
७८.	भरत का प्रायोपवेश और राम का आदेश	२०८
७९.	पादुका-प्रदान	२११
८०.	भरत की वापसी और नन्दिग्राम में वास	२१३
८१.	राक्षसों द्वारा प्रदत्त कष्टों का वर्णन	२१४
८२.	राम का चित्रकूट से प्रस्थान, सीता को अनसूया का उपदेश तथा सभी का दण्डकवन में प्रवेश	२१६

अयोध्याकाण्डम्

प्रथमः सर्गः (१)

राम के राज्याभिषेक का निश्चय—

गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदाऽनघः।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः॥ १॥

मामा के घर जाते हुए महात्मा भरत निष्पाप एवं शत्रुओं का हनन करनेवाले शत्रुघ्न को भी प्रीतिपूर्वक अपने साथ ले गये।

स तत्र न्यवसद् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः॥ २॥

भरतजी अपनी ननिहाल में अपने लघु भ्राता शत्रुघ्नसहित सत्कृत होकर रहने लगे। उनके मामा उनसे पुत्रवत् स्नेह करते थे।

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः।
भ्रातारौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम्॥ ३॥

सब प्रकार से सन्तुष्ट रखे जाने पर भी दोनों वीर भाइयों को प्रायः अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथ का स्मरण हो आता था।

राजाऽपि महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ॥ ४॥

महातेजस्वी दशरथ भी महेन्द्र और वरुण के समान परदेश गत राजकुमारों को स्मरण किया करते थे।

सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभः।
स्वशरीराद् विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः॥ ५॥

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः।
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः॥ ६॥

यद्यपि अपने शरीर से निकली हुई चारों भुजाओं के समान चारों ही राजकुमार महाराज दशरथ को प्रिय थे, तथापि उन चारों में महातेजस्वी श्रीराम पर दशरथजी का विशेष अनुराग था, क्योंकि वे सब प्राणियों में ब्रह्मा के समान अत्यन्त गुणवान् थे।

स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः॥ ७॥

श्रीराम अत्यन्त रूपवान्, महाशक्तिशाली, दुर्गुणों से रहित, पृथिवी पर अनुपम और गुणों में दशरथ ही के समान थे।

स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं प्रभाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥ ८॥

वे सदा प्रसन्नचित रहते और सबसे मधुर बोलते थे। यदि कोई उनके प्रति कठोर वचन भी बोलता तो भी वे प्रत्युत्तर में कोई कठोर बात नहीं कहते थे।

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥ ९॥

श्रीराम किसी प्रकार किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते थे और किसी ने उनके प्रति सैकड़ों अपकार[1] किये हों तो भी उनका स्मरण न करते थे।

---

१. इस विषय में श्रीराम के जीवन की एक घटना का अवलोकन कीजिए। चित्रकूट में बैठे हुए श्रीराम और लक्ष्मण वार्त्तालाप में संलग्न हैं। लक्ष्मणजी भरत की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

हे राम! भरतजी भी सारे भोग-विलासों को छोड़ आपकी ही भाँति तप कर रहे हैं। वे भूमि पर सोते हैं, शीतल जल से स्नान करते हैं, परन्तु—

(उन्हें भूल जाते थे)।

सानुक्राशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्शुचिः॥ १०॥

वे दयालु, क्रोध को वश में रखनेवाले, ब्राह्मणों का सम्मान करनेवाले, दीनों पर दया करनेवाले, धर्म को जाननेवाले, जितेन्द्रिय एवं पवित्र थे।

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः॥ ११॥

दशरथनन्दन श्रीराम श्रेष्ठ गुणों से युक्त थे। उनके इन गुणों के कारण ही प्रजा के लोग उन्हें बाहर रहनेवाले अपने प्राण के समान प्रेम करते थे।

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः॥ १२॥

श्रीराम सब विद्याओं और ब्रह्मचर्य-व्रत में स्नान किये हुए, अर्थात् विद्यास्नातक और व्रतस्नातक थे। वे अङ्गों सहित वेदों को जाननेवाले और बाण-विद्या में अपने पिताजी से भी बढ़कर थे।

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः॥ १३॥

वे धनुर्विद्या विशारदों में श्रेष्ठ थे, अतिरथों से पूजित थे, शत्रुओं पर आक्रमण तथा प्रहार करने और सैन्य-सञ्चालन में कुशल थे।

तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैर्गुणैः।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत॥ १४॥

श्रीराम को लोकोत्तर गुणों से विभूषित देखकर महाराज दशरथ ने शुभ गुणों से युक्त मन्त्रियों के साथ परामर्श कर उन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त करने का निश्चय किया।

नानानगर वास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान्पृथिवीपतीन्॥ १५॥

इस अवसर पर महाराज दशरथ ने नाना नगरों और अन्य देशों के प्रधान राजाओं को बुलवाया।

न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम्॥ १६॥

महाराज ने शीघ्रता के कारण[१] केकयराज और जनकजी को नहीं बुलाया यह सोचकर कि उनको यह शुभ समाचार पीछे मिल ही जायेगा।

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥

—अरण्य० ११।१७

जिसका पति महाराजा दशरथ जैसा हो, जिसका पुत्र साधु भरत जैसा हो, वह माता कैकेयी किस प्रकार ऐसे क्रूर स्वभाव की हुई?

श्रीराम लक्ष्मण द्वारा की गई माता कैकेयी की इस निन्दा को सहन न कर सके। उन्होंने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

—अरण्य० ११।१९

हे भाई लक्ष्मण! तुझ मझली माता कैकेयी की निन्दा मत करो। तुम तो इक्ष्वाकुनाथ भरत की ही चर्चा करो। यह है श्रीराम का अपकारों को भूलने का स्वभाव!

१. केकयराज और जनक को न बुलाने का कारण राजनीतिक थे, परन्तु कैकेयी का विवाह दशरथ के साथ इस शर्त पर हुआ था कि उससे जो पुत्र उत्पन्न होगा वह राजगद्दी का अधिकारी होगा। यदि केकयराज और जनक—इन दोनों को भी बुलाया जाता तो निश्चित था कि जनक श्रीराम का पक्ष लेते और केकयराज भरत का। इस प्रकार इन दोनों में ही युद्ध ठन जाता। इस स्थिति को टालने के लिए महाराज दशरथ ने दोनों में से किसी को भी सूचना नहीं दी।

◀ द्वितीयः सर्गः ▶ (२)

परिषद् द्वारा श्रीराम के राज्याभिषेक का अनुमोदन—

ततः परिषदं सर्वमामन्त्र्य वसुधाधिपः।
हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः॥ १॥

तत्पश्चात् महाराज दशरथ ने समस्त परिषद् को बुलाकर हितकारी, हर्षजनक और प्रथित=सबको सुनाई पड़ने योग्य वचन कहा—

विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम्।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम्॥ २॥

जिस प्रकार हमारे पूर्वज नरेन्द्रों ने पुत्रवत् इस विशाल राज्य का पालन किया है, यह तो आप लोगों को ज्ञात ही है।

सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम्।
श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत्॥ ३॥

मैं इक्ष्वाकुवंशी राजाओं द्वारा प्रतिपालित सम्पूर्ण राज्य को सुख और कल्याण से युक्त करना चाहता हूँ।

मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता।
प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः॥ ४॥

मैंने भी अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करते हुए प्रमाद-रहित यथाशक्ति प्रजा का पालन किया है।

इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरिता हितम्।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया॥ ५॥

प्रजाजनों के हित की कामना करते हुए इस श्वेत राजछत्र के नीचे मेरा यह शरीर जराजीर्ण हो गया है।

जीर्णस्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये।
राजप्रभावजुष्टां हि दुर्वहामजितेन्द्रियैः॥ ६॥
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन्।
सोऽहं विश्राममिच्छामि रामं कृत्वा प्रजाहिते॥ ७॥

अब मैं चाहता हूँ कि इस जीर्ण शरीर को विश्राम दूँ। पराक्रम द्वारा सेवन करने योग्य और अजितेन्द्रिय पुरुषों से न उठा सकने योग्य इस संसार के धर्मरूपी धुरा को ढोते हुए अब मैं थक गया हूँ, अतः राम को राजकार्य में लगाकर मैं विश्राम ग्रहण करना चाहता हूँ।

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्॥ ८॥

यदि मेरा यह विचार उचित और योग्य हो तो आप मुझे अनमुति दें, अथवा जो करना उचित हो वह बतलावें।

इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम्।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः॥ ९॥

महाराज दशरथ के इन वचनों को सुन सब राजा लोगों ने वैसी ही प्रसन्नता प्रकट की जैसे बरसते हुए बादल को देखकर मोर प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे तत्र हर्षसमीरितः।
जनौघोद्घुष्टसन्नादो मेदिनीं कम्पयन्निव॥ १०॥

उस समय राजाओं तथा अन्य उपस्थित जनों ने प्रसन्न हो, "वाह, वाह," "ठीक, बहुत ठीक" कह कर इतने जोर से आनन्द प्रकट किया कि राजसभा-भवन भी काँपता-सा प्रतीत हुआ।

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह।
समेत्य ते मन्त्रयित्वा चोचुर्दशरथं नृपम्॥ ११॥

महाराज दशरथ के मनोभावों को जानकर वसिष्ठ आदि ब्राह्मणों, राजाओं तथा नगर और राज्य के प्रधान-प्रधान लोगों ने परस्पर विचार-विमर्श कर दशरथजी से कहा—

अनेकवर्षवयसो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम्॥ १२॥

हे राजन्! आप राज्य करते-करते बहुत वृद्ध हो गये हैं, अतः अब आप श्रीराम को युवराज पद पर अभिषिक्त कर दीजिए।

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम्॥ १३॥

हमारी हार्दिक अभिलाषा है कि महाबाहु एवं महाबली श्रीराम एक बड़े हाथी पर बैठकर और सिर के ऊपर राजछत्र लगाए हुए चलें और हम यह शुभ दृश्य देखें।

इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनः प्रियम्।
अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत्॥ १४॥

महाराज दशरथ ने, उन सबके ये प्रिय वचन सुन उनके मन का अभीष्ट जानने के लिए, अनजान मनुष्य की भाँति उनसे पूछा—

श्रुत्वैवं वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ।
राजानः संशयोऽयं मे किमिदं ब्रूत तत्त्वतः॥ १५॥

हे राजाओ! मेरे कहते ही आप राम को राजा बनाने के लिए तैयार हो गये, इससे मेरे मन में एक संशय उत्पन्न हो गया है, आप लोग ठीक-ठीक उत्तर देकर उसका निवारण कीजिए।

कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं ममात्मजम्॥ १६॥

जब मैं धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन कर रहा हूँ, फिर आप लोग मेरे पुत्र को युवराज क्यों बनाना चाहते हैं? (क्या मैं ठीक-ठीक शासन नहीं कर रहा हूँ?)

ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह।
बहवो नृप कल्याणगुणाः पुत्रस्य सन्ति ते॥ १७॥

यह सुनकर वे राजा आदि समस्त पुरुष बोले—हे राजन्! आपके पुत्र में प्रजा के कल्याण-कारक बहुत-से गुण हैं।

गुणान्गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः।
प्रियानानन्दनान्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्शृणु॥ १८॥

हे राजन्! देवों के समान गुणवाले और बुद्धिमान् श्रीराम के प्रिय और आनन्ददायक गुणों का हम वर्णन करते हैं, आप सुनिए—

दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः।
इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते॥ १९॥

हे प्रजाओं के स्वामिन्! सत्यपराक्रमी श्रीराम दिव्य गुणों से इन्द्र के समान हो रहे हैं, अतः वे इक्ष्वाकुवंशी राजाओं में सबसे श्रेष्ठ हैं।

रामः सत्यपुरुषो लोके सत्यः धर्मपरायणः।
साक्षाद्रामाद्विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह॥ २०॥

सत्यपरायण श्रीराम लोक में वस्तुतः श्रेष्ठ पुरुष हैं। उन्हीं से धर्म और अर्थ को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः॥ २१॥

प्रजा को सुख देने में श्रीराम चन्द्रमा के तुल्य, क्षमा करने में पृथिवी के समान, बुद्धि में बृहस्पति के तुल्य और पराक्रम में साक्षात् इन्द्र के समान हैं।

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः॥ २२॥

वे धर्मज्ञ, सत्यवादी, शीलयुक्त, ईर्ष्या से रहित, शान्त, दुःखियों को सान्त्वना देनेवाले, मधुर-भाषी, कृतज्ञ और जितेन्द्रिय हैं।

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति॥ २३॥

मनुष्यों पर कोई आपत्ति आने पर वे स्वयं दुःखी होते हैं और उत्सव के समय पिता की भाँति प्रसन्न होते हैं।

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः॥ २४॥

श्रीराम सदा सत्य बोलनेवाले, महाधनुर्धर, वृद्धों की सेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, हँसकर बोलनेवाले और सब प्रकार से धर्म का सेवन करनेवाले हैं।

नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येव नियमाद्वध्यानवध्ये न च कुप्यति॥ २५॥

उनका क्रोध और प्रसन्नता कभी निरर्थक नहीं होती। वे मारने योग्य को मारते ही हैं (चाहे वह आत्मीय जन ही क्यों न हो) और अवध्यों पर कभी

क्रोध नहीं करते।

दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैर्नृणाम्।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ २६ ॥

श्रीराम यम-नियम आदि पालन में कष्ट-सहिष्णु हैं। प्रजाजनों के प्रीतिमात्र हैं, स्वजनों में प्रीति उत्पन्न करानेवाले हैं इन गुणों से अलंकृत श्रीराम रश्मियों से युक्त सूर्य की भाँति देदीप्यमान हैं।

तमेवं गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ २७ ॥

इन सब गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्रीराम को लोकपालों की भाँति पृथिवी अपना राजा बनाना चाहती है।

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ २८ ॥

हम लोग आपके पुत्र श्रीराम को जो नील-कमल के समान श्याम हैं और शत्रुनाशक हैं, युवराज देखना चाहते हैं।

❮ तृतीयः सर्गः ❯ (३)

राम को उपदेश—

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः।
प्रतिगृह्याब्रवीद्राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

उन हाथ जोड़े हुए राजाओं की प्रार्थना को सुनकर महाराज उनसे ये प्रिय एवं हितकर वचन बोले—

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

अहो! मैं बहुत प्रसन्न हूँ, यह मेरा महान् सौभाग्य है जो आप लोग मेरे ज्येष्ठ और प्रिय पुत्र राम को युवराज बनाना चाहते हैं।

इति प्रत्यर्च्य तान्राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत्।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार नगर और जनपद के प्रमुख लोगों को प्रसन्न कर, उन्हीं के समक्ष महाराज दशरथ ने वसिष्ठ और वामदेव आदि ब्राह्मणों से कहा—

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥

इस श्रेष्ठ और पवित्र चैत्र मास में, जिसमें वन पुष्पों में सुशोभित हो रहे हैं, श्रीराम के राज्याभिषेक के लिए तैयारी कीजिए।

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत्।
शनैस्तमिस्मन्प्रशान्ते च जनघोषे नराधिपः ॥ ५ ॥

वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत्।
अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम्।
तदद्य भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि ॥ ६ ॥

महाराज दशरथ के वचन समाप्त होने पर महान् जनघोष हुआ। धीरे-धीरे उस जनघोष के शान्त होने पर दशरथजी ने मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी से कहा—श्रीराम के राज्याभिषेक के लिए जो कृत्य करने हों और जो सामग्री चाहिए उसकी आज्ञा दीजिए।

तत् श्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो द्विजसत्तमः।
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन् ॥ ७ ॥

राजा का यह वचन सुन द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ ने राजा के सम्मुख हाथ जोड़े, सावधान बैठे हुए मन्त्रियों को आदेश दिया—

सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि।
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक् च मधुसर्पिषी ॥ ८ ॥
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि।
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥
चामरव्यञ्जने श्वेते ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम्।
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् ॥ १० ॥
हिरण्यशृंगमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च।
यच्चान्यत्किञ्चिदेष्टव्यं तत्सर्वमुपकल्प्यताम् ॥ ११ ॥

सुवर्ण आदि रत्न, बलीन्=यज्ञ की सामग्री और

सब ओषधियाँ, श्वेत पुष्प की मालाएँ, लाजा=धान की खीलें, पृथक्-पृथक् पात्रों में शहद एवं घृत, नये वस्त्र, रथ और सब अस्त्र-शस्त्र, चतुरङ्गिणी सेना, शुभ लक्षणोंवाला हाथी, दो चँवर, सफेद ध्वजा और छत्र, अग्नि के समान देदीप्यमान स्वर्ण-निर्मित सौ कलश, स्वर्ण के मढ़े हुए सींगों-वाले बैल, अखण्डित (नखादि सहित) व्याघ्र-चर्म तथा और जो कुछ चाहिए सब तैयार करो।

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम्।
एवं व्यादिश्य विप्रौ तौ क्रियास्तत्र सुनिष्ठितौ॥ १२॥
कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम्।
ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा वचनमब्रवीत्॥ १३॥

चारों ओर पताकाएँ बाँधी जाएँ और सड़कों पर छिड़काव कराया जाये। इस प्रकार वसिष्ठ और वामदेव ने मन्त्रियों को आज्ञा देकर तथा सब कामों को ठीक-ठाक कर, महाराज के पास जाकर इन सब बातों की सूचना दी। तब महातेजस्वी महाराज दशरथ ने सुमन्त्र से कहा—

रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति।
स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात्॥ १४॥
रामं तत्रानयाञ्चक्रे रथेन रथिनां वरम्।
न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः॥ १५॥

आप धर्मात्मा श्रीराम को शीघ्र बुला लाओ। सुमन्त्र 'तथास्तु' कहकर राजाज्ञा से रथियों में श्रेष्ठ राम को रथ में बैठाकर महाराज दशरथ के पास लाया। महाराज आते हुए श्रीराम को देखते-देखते तृप्त नहीं होते थे।

स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके।
नाम स्वं श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः॥ १६॥

श्रीराम ने महाराज के समीप जा, हाथ जोड़ और अपना नाम लेकर[१] पिता के चरणों में[२] प्रणाम किया।

तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः।
गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम्॥ १७॥
तस्मै चाभ्युदितं सम्यङ् मणिकाञ्चनभूषितम्।
दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम्॥ १८॥

जब महाराज ने देखा कि श्रीराम हाथ जोड़े हुए उनके समीप खड़े हैं तो उन्होंने राम का हाथ पकड़ कर उन्हें अपने गले से लगाया तथा अपने समान ऊँचे स्वर्णमय एवं रत्न-जटित उत्तम आसन पर बैठने की आज्ञा दी।

तदासनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः।
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः॥ १९॥

उस आसन पर बैठे हुए श्रीराम वैसे ही देदीप्यमान एवं सुशोभित हुए जैसे सूर्य उदय होने पर सुमेरु पर्वत स्वयमेव प्रकाशित हो उठता है।

तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम्।
स तं सस्मितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतां वरः॥ २०॥

पुत्रवानों से श्रेष्ठ महाराज दशरथ अपने पुत्र की

---

१. यह वैदिक परिपाटी है। महर्षि मनु लिखते हैं—

अभिवादत्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाऽहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत॥

—मनु० २।१२२

विप्र=विद्वान् अपने से बड़े को अभिवादन करके अपना नाम भी बताये। जैसे—

'अभिवादये रामोऽहं भोः।'

वृद्धों को नमस्कार करने से क्या लाभ है? महर्षि मनु (२।१२१) लिखते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥

जो नमस्कार करने के स्वभाववाला है और प्रतिदिन वृद्धों की सेवा करता है उसके आयु, विद्या, यश और बल—इन चारों की वृद्धि होती है।

२. अभिवादन कैसे करना चाहिए—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

—मनु० २।७२

अलग-अलग हाथ करके गुरु के पैर छुए, दाहिने हाथ से दाहिना और बायें हाथ से बायां।

ऐसी शोभा देखकर परम प्रसन्न हुए और मुस्करा कर श्रीराम से बोले—

ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः।
उत्पन्नस्त्वं गुणश्रेष्ठो मम रामात्मजः प्रियः॥ २१॥

तुम मेरी ज्येष्ठा-पत्नी के अनुरूप ही मेरे पुत्र हो, तुममें सब उत्तम गुण विद्यमान हैं और तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो।

यतस्त्वया प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः।
तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि॥ २२॥

क्योंकि तुमने अपने गुणों से प्रजा को प्रसन्न कर रखा है, इसलिए तुम कल पुष्य नक्षत्र में युवराज पद को प्राप्त करो।

कामतस्त्वं प्रकृत्यैव विनीतो गुणवानसि।
गुणवत्यपि तु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम्॥ २३॥

यद्यपि तुम स्वभाव से ही विनम्र एवं गुण-सम्पन्न हो तथा स्नेहवश मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ।

भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः।
कामक्रोधसमुत्थानि त्यजेथा व्यसनानि च॥ २४॥

तुम्हें योग्य है कि और अधिक विनय को धारण करके सदा जितेन्द्रिय बनो तथा काम और क्रोध[1] से उत्पन्न व्यसनों को छोड़ दो।

परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा।
अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रकृतीश्चानुरञ्जय॥ २५॥

परोक्ष=दूतादि द्वारा और प्रत्यक्ष=स्वयं जाँच-पड़ताल की वृत्ति को धारण करके अमात्यादि सब प्रकृतियों[2] को सदा प्रसन्न रखो।

कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा सन्निचयान् बहून्।
तुष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम्॥ २६॥
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः।
तस्मात्पुत्र त्वमात्मानं नियम्येवं समाचार॥ २७॥

अन्न के भण्डार को तथा अस्त्र-शस्त्रों के भण्डार को सदा अन्न और अस्त्र-शस्त्रों के संग्रह से बढ़ाते रहो। देखो! जो राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न रखकर राज्य करता है उससे उसके मित्र ऐसे ही प्रसन्न रहते हैं जैसे देवता अमृतपान से प्रसन्न होते हैं, अतः हे वत्स! तुम अपने-आपको संयम में रखकर जैसा मैंने कहा है वैसा ही आचरण करो।

तत् श्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः।
त्वरिताः शीघ्रमभ्येत्य कौसल्याय न्यवेदयन्॥ २८॥

महाराज दशरथ के ये वचन सुन श्रीराम के

---

१. महर्षि मनु के अनुसार काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले दोष निम्न हैं—

मृगयाक्षादिवास्वप्नः परिवादस्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥

—मनु० ७। ४७

काम से उत्पन्न होनेवाले दोष—१. शिकार करना, २. जुआ खेलना, ३. दिन में सोना, ४. दूसरों की झूठी निन्दा करना, ५. स्त्रियों में आसक्ति, ६. मद्यपान, ७. नाचना, ८. गाना, ९. बजाना और १०. व्यर्थ इधर-उधर घूमना—ये दस कामज व्यसन हैं।

पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥

—मनु० ७। ४८

क्रोध से उत्पन्न होनेवाले दोष—१. चुगली करना, २. बिना विचारे कार्य करना, ३. द्रोह करना, ४. ईर्ष्या रखना, ५. असूया=दूसरों के गुणों में दोष=दर्शन करना, ६. अधर्मयुक्त बुरे कामों में धन व्यय करना, ७. बिना अपराध कठोर वचन या विशेष दण्ड देना और ८. कठोर भाषण—ये आठ क्रोधज व्यसन हैं।

२. चाणक्य के अनुसार प्रकृतियाँ निम्न हैं—

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।

—कौटिल्य अर्थशास्त्र ६। १। १

१—स्वामी=राजा, २—आमात्य=मन्त्री आदि, ३—जनपद= देशवासी, ४—दुर्ग, ५—कोश, ६—दण्ड=सेना और ७—मित्र—ये सात प्रकृतियाँ कहाती हैं।

प्रियकारी मित्रों ने यह शुभ संवाद तुरन्त महारानी कौसल्या को जा सुनाया।

सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च।
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा॥ २९॥

स्त्रियों में श्रेष्ठा कौसल्या ने इस शुभ सूचना को सुन संवाद देनेवालों को सोना, विविध रत्न और गौएँ देने का आदेश दिया।

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः।
ययौ स्वं द्युतिमद्वेश्म जनौघैः प्रतिपूजितः॥ ३०॥

इतने में श्रीराम भी महाराज दशरथ को प्रणाम कर और रथ पर आरूढ़ हो अपने सुन्दर भवन की ओर गये। मार्ग में लोगों की भीड़ ने उनका अभिनन्दन किया।

➤ चतुर्थः सर्गः ➤ (४)

माता का आशीर्वाद—

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा।
सूतमाज्ञापयामास रामं पुनरिहानय॥ १॥

अथ=मन्त्रियों को विदा करने के पश्चात् महाराज दशरथ ने अन्तःपुर में प्रवेश करके सुमन्त्र को आज्ञा दी कि श्रीराम को पुनः यहाँ ले आओ।

प्रतिगृह्य स तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः॥ २॥

सुमन्त्र महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य कर श्रीराम को पुनः बुला लाने के लिए शीघ्र राम के भवन में गये।

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत्॥ ३॥

जब द्वारपालों ने सूत के पुनः आने की सूचना दी तब श्रीराम सारथि के पुनरागमन की बात सुन कर शंकित हुए।

प्रवेश्य चैनं त्वरितो रामो वचनमब्रवीत्।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः॥ ४॥

उस सूत को शीघ्र ही अन्दर बुलाकर श्रीराम ने कहा—"तुम्हारे पुनः आने का जो प्रयोजन है वह कहो।"

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति।
श्रुत्वा प्रमाणमत्र त्वं गमनायेतराय वा॥ ५॥

सुमन्त्र ने कहा—महाराज आपसे मिलना चाहते हैं, आप जैसा उचित समझें करें, जाने या न जाने में आप स्वतन्त्र हैं।

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽथ त्वरयान्वितः।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम्॥ ६॥

सारथि के वचनों को सुनकर श्रीराम शीघ्रतापूर्वक महाराज से मिलने के लिए राजभवन में गये।

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम्॥ ७॥

श्रीराम का आगमन सुन, उत्तम एवं प्रिय वार्त्ता करने के इच्छुक महाराज दशरथ उन्हें अपने निजगृह में ले गये।

प्रदिश्य चास्मै रुचिरमासनं पुनरब्रवीत्।
राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा मयेप्सिताः।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैस्तथेष्टं भूरिदक्षिणैः॥ ८॥

श्रीराम को सुन्दर आसन पर बैठने का संकेत कर वे बोले—हे राम! अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मैंने बहुत दिन राज्य करके मनमाने सुख भोगे तथा अन्नदानपूर्वक प्रचुर दक्षिणावाले सैकड़ों यज्ञ भी कर चुका हूँ।

न किञ्चिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात्।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि॥ ९॥

तुम्हारे अभिषेक के अतिरिक्त मुझे और कोई कार्य करना शेष नहीं है, अतः अब मैं तुमसे जो कुछ कहूँ वैसा करो।

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक॥ १०॥

इस समय सारी प्रजा तुम्हें राजा बनाना चाहती हैं, अतः हे वत्स! मैं तुम्हारा युवराजपद पर अभिषेक करता हूँ।

अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्ने पश्यामि दारुणान्।
सनिर्घाता महोल्काश्च पतिता हि महास्वनाः॥ ११॥

(किन्तु मुझे इस कामना के पूर्ण होने में विघ्न पड़ता दिखाई देता है, क्योंकि) हे राम! आजकल मुझे रात्रि में भयंकर एवं अशुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। स्वप्न में मुझे आकाश से भीषण शब्द के साथ उल्कापात होते दिखाई देते हैं।

प्रायेण हि निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां वाऽऽपदमृच्छति॥ १२॥

इस प्रकार के निमित्तों के उपस्थित होने पर प्रायः राजा की मृत्यु हो जाती है अथवा उस पर कोई भारी विपत्ति आती है।

तद्यावदेव मे चेतो न विमुञ्चति राघव।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः॥ १३॥

अतः हे राघव! जब तक मेरा चित्त ठीक है, मैं होश-हवास में हूँ, तभी तक अपना अभिषेक करा लो, क्योंकि मनुष्य की मति का कुछ भरोसा नहीं।

तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम्।
श्वस्त्वाऽहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परन्तप॥ १४॥

हे शत्रुनाशक! कल पुष्य नक्षत्र में तुम अपना अभिषेक करा लो। मेरा मन मुझे शीघ्रता करने के लिए प्रेरित कर रहा है, अतः कल ही तुम्हारा अभिषेक हो जाये।

तस्मात्त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशयिना॥ १५॥

अतः आज से ही तुम सपत्नीक नियमानुसार व्रत-उपवास करके पत्थर की चौकी पर कुशा बिछा कर शयन करना।

सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि॥ १६॥

तुम्हारे मित्र सावधान होकर चारों ओर से तुम्हारी रक्षा करें, क्योंकि इस प्रकार के कार्यों में अनेक विघ्नों की सम्भावना होती है।

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम॥ १७॥

जब तक भरत अपने मामा के घर है, तभी तक तुम्हारे राज्याभिषेक का उपयुक्त समय है, ऐसा मेरा मत है।[१]

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः॥ १८॥
किन्तु चित्तं मनुष्याणामनितयमिति मे मतिः।
सतां तु धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघवा॥ १९॥

यद्यपि तुम्हारे भाई सज्जन हैं, बड़े भाई के कथनानुसार चलनेवाले हैं, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं, परन्तु मनुष्यों का मन चञ्चल होता है और धार्मिक एवं साधु-पुरुषों का मन भी चलायमान हो जाता है।

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम्॥ २०॥

हे वत्स! कल को होनेवाले अपने अभिषेक का स्मरण रखो। अब अपने घर को जाओ। पिता की

---

१. महाराज दशरथ के साथ कैकेयी का विवाह इस शर्त पर हुआ था कि कैकेयी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही राजगद्दी का अधिकारी होगा। उस समय अन्य किसी रानी के कोई सन्तान नहीं थी, अतः दशरथ ने यह शर्त स्वीकार कर ली। अब कौसल्या के गर्भ से उत्पन्न राम ज्येष्ठ राजकुमार है। कहीं कैकेयी उस बात को स्मरण कर भरत को भड़का न दे इसी आशंका से उन्होंने कहा है कि जब तक भरत अपनी ननिहाल में है तभी तक तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाना चाहिए।

आज्ञा पा पिता का अभिवादन कर राम अपने घर चले गये।[१]

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञोद्दिष्टेऽभिषेचने।
तत्क्षणेन च निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ॥ २१॥

राजा दशरथ द्वारा अभिषेक की आज्ञा के अनन्तर श्रीराम अपने भवन में गये फिर वहाँ से वे तुरन्त अपनी माता के भवन में चले गये।

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम्॥ २२॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि माता कौसल्या रेशमी साड़ी पहने हुए, उपासना-गृह में बैठी हुई, मौन-व्रत धारण किये हुए प्राणिमात्र के मङ्गल की कामना कर रही हैं।

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा।
सीता चानायिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम्॥ २३॥

सुमित्रा और लक्ष्मण वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे। कौसल्याजी ने रामाभिषेक के प्रिय संवाद को सुनकर सीता को भी वहीं बुलवा लिया था।

तथा सनियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं तदा॥ २४॥

उसी समय श्रीराम भी वहाँ पहुंचे, वे माता को प्रणाम कर और उन्हें प्रसन्न करते हुए कहने लगे—

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि।
भविता श्वोऽभिषेकोऽयं यथा मे शासनं पितुः॥ २५॥

हे माता! पिताजी ने मुझे प्रजापालन की आज्ञा दी है, अतः मुझे कल ही पिताजी की आज्ञा से राजभार ग्रहण करना होगा।

एतत् श्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालभिकाङ्क्षितम्।
हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत॥ २६॥

यह सुनकर चिरकाल से राम-राज्याभिषेक की प्रतीक्षा करनेवाली कौसल्या, नेत्रों में आनन्द के आँसू भर श्रीराम से बोली—

वत्स राम चिरंजीव हतास्ते परिपन्थिनः।
ज्ञातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय॥ २७॥

हे राम! तू चिरञ्जीवी हो। तेरे शत्रुओं का नाश हो। राजलक्ष्मी पाकर तुम मेरे और सुमित्रा के बन्धु-बाँधवों को आनन्दित करो।

इत्येवमुक्तो मात्रेदं रामो भ्रातरमब्रवीत्।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव॥ २८॥

माताजी की ये बातें सुन, श्रीराम विनीत भाव से हाथ जोड़कर बैठे हुए अपने लघु भ्राता लक्ष्मण की ओर देखकर मुस्कराते हुए बोले—

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम्।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता॥ २९॥

हे लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का शासन करो। तुम मेरे दूसरे आत्मा के समान हो, अतः यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है।

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं च हि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥ ३०॥

हे लक्ष्मण! तुम अभीष्ट भोगों और राज्यफल को भोगो। मेरा जीवन और राज्य सभी कुछ तुम्हारे लिए है।

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च।
अभ्यनुज्ञाप्या सीतां च जगाम स्वं निवेशनम्॥ ३१॥

लक्ष्मणजी से ऐसा कह और दोनों माताओं को प्रणाम कर तथा सीताजी के जाने के विषय में अनुज्ञा पाकर श्रीराम अपने निवास-स्थान को चले गये।

---

१. ये बातें गोपनीय थीं, अतः सबके सामने कहने योग्य नहीं थीं, इसलिए दशरथ ने राम को दोबारा बुलाया था और उन्हें अपने निजी गृह में ले जाकर ये बातें कही थीं।

◀ पञ्चमः सर्गः ▶ (५)

यौवराज्याभिषेक सम्बन्धी व्रत-अनुष्ठान—

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत्॥ १॥

उधर महाराज दशरथ कल होनेवाले अभिषेक के विषय में राम को सूचित कर, पुरोहित वसिष्ठ को बुलाकर उनसे बोले—

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन।
श्रीयशोराज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रतम्॥ २॥

हे तपोधन! राम के पास जाइए और उनसे कल्याण, यश और राज्य-प्राप्ति के लिए पत्नी सहित उपवास कराइए।

तथैति स च राजानमुक्त्वा वेदविदांवरः।
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम्॥ ३॥

वेदज्ञों में श्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठ "बहुत अच्छा" कह कर स्वयं श्रीराम के घर गये।

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम्।
प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः॥ ४॥

महर्षि वसिष्ठ श्वेत बादलों के समान सफेद रंगवाले भवन में पहुंच कर श्रीराम को हर्षित करते हुए बोले—

प्रसन्नस्ते पिता राम यौवराज्यमवप्स्यसि।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया॥ ५॥

हे राम! तुम्हारे पिता तुम पर प्रसन्न हैं। कल तुम्हारा राज्याभिषेक होगा, अतः आज आप सीता सहित उपवास करें।

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतम्।
मन्त्रवित् कारयामास वैदेह्या सहितं मुनिः॥ ६॥

यह कहकर वेदमन्त्रवित् मुनिवर वसिष्ठ ने नियत व्रत श्रीराम एवं सीताजी से उस रात्रि को उपवास कराया।

ततो यथावद्रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात्॥ ७॥

तदनन्तर राजगुरु वसिष्ठ राम द्वारा भली-भाँति सम्मानित एवं सत्कृत होकर अपने निवास-स्थान को चले गये।

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्॥ ८॥

वसिष्ठजी के चले जाने पर श्रीराम एवं विशालाक्षी सीता दोनों स्नान कर और शुद्ध मन से एकाग्रचित्त होकर परमपिता परमात्मा की उपासना में लग गये।

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः।
पूर्वां सन्ध्यामुपासीनो जजाप यतमानसः॥ ९॥

जब एक प्रहर रात्रि शेष रही तब वे उठे और प्रातःकालीन सन्ध्योपासन कर, एकाग्रचित्त होकर गायत्री का जप करने लगे।

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वारामाभिषेचनम्।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम्॥ १०॥

प्रातःकाल होने पर, श्रीराम के राज्याभिषेक की बात सुनकर, पुरवासी नगर को सजाने लगे।

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः।
राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने॥ ११॥

रामाभिषेक के उपलक्ष्य में पुरवासियों ने राजमार्ग को फूल-मालाओं से सुशोभित और धूप की सुगन्ध से सुगन्धित किया।

सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च।
ध्वजाः समुच्छ्रिताश्चित्राः पताकाश्चाभवंस्तदा॥ १२॥

सभी सभा-भवनों पर और ऊँचे-ऊँचे वृक्षों पर रंग-बिरंगी ध्वजा और पताकाएँ फहराई गईं।

अलंकारं पुरस्यैवं कृत्वा तत्पुरवासिनः।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम्॥ १३॥

इस प्रकार नगर को सजाकर पुरवासी श्रीराम के युवराज-पद पर अभिषिक्त किये जाने की प्रतीक्षा करने लगे।

षष्ठः सर्गः (६)

मन्थरा का परिताप—

ज्ञातिदासी यतोजाता कैकेय्यास्तु सहोषिता।
प्रासादं चन्द्रसङ्काशमारुरोह यदृच्छया॥ १॥

रानी कैकेयी की एक कुलदासी थी। यह मायके से ही उसके साथ आई थी और सदा उसी के साथ रहती थी। इसका नाम मन्थरा था। जिस दिन राम राज्याभिषेक की घोषण हुई उस दिन सायंकाल वह अकस्मात् चन्द्रमा के समान श्वेत एवं सुन्दर राजप्रासाद पर चढ़ी।

सिक्तराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम्।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात्प्रासादादन्ववैक्षत॥ २॥

उस प्रासाद से मन्थरा ने देखा कि अयोध्या की सड़कों पर छिड़काव किया गया है और स्थान-स्थान पर पुष्पमालाएँ लटक रही हैं।

संप्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषाभिनादिताम्।
प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां सं प्रणर्दितगोवृषाम्॥ ३॥

(उसने देखा) सब लोग उत्सव में मस्त हैं। चारों ओर वेदध्वनि हो रही है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या हाथी, घोड़े, गौ-बैल तक आनन्द में भर कर हर्षध्वनि कर रहे हैं।

प्रहृष्टमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम्।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता॥ ४॥

अयोध्यावासी आनन्दमग्न होकर घूम रहे हैं। बड़ी-बड़ी पताकाएँ फहरा रही हैं, मालाएँ बँधी हुई हैं। इस प्रकार की अलंकृत अयोध्यापुरी को देखकर मन्थरा बड़ी चकित हुई।

प्रहर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम्।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा॥ ५॥

मन्थरा ने पास ही खड़ी हुई अत्यन्त प्रफुल्लित श्वेत रेशमी साड़ी पहिने हुए रामचन्द्रजी की धात्री से पूछा—

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति॥ ६॥

आज हर्ष-विभोर सती राम-माता कौसल्या किस प्रयोजन से प्रेरित होकर मनुष्यों को धन बाँट रही है।

अतिमात्रप्रहर्षोऽयं किं जनस्य च शंस मे।
कारयिष्यति किं वापि संप्रहृष्टो महीपतिः॥ ७॥

अयोध्यावासियों के अत्यानन्दित होने का कारण क्या है? महाराज दशरथ भी अत्यन्त प्रसन्न हैं—क्या वे कोई अनुपम कार्य करनेवाले हैं—यह सब मुझे बता।

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परयामुदा।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवश्रियम्॥ ८॥

मन्थरा के इस प्रकार पूछने पर, हर्ष से प्रफुल्लित उस धात्री ने कुब्जा से राम को प्राप्त होनेवाली राज्यलक्ष्मी का वृत्तान्त कह सुनाया।

श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन राघवम्।
राजा दशरथो राज्यमभिषेचयितानघम्॥ ९॥

उसने कहा—कल प्रातःकाल होते ही पुष्य-नक्षत्र में महाराज दशरथ जितक्रोध एवं निष्पाप श्रीराम को युवराज पद पर अभिषिक्त करेंगे।

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत॥ १०॥

धात्री के ये वचन सुनकर कुबड़ी मन्थरा ईर्ष्या में भर कैलास पर्वत के शिखर के समान ऊँचे महल से उतरी।

सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्॥ ११॥

क्रोध में जलती हुई, भलाई में भी बुराई देखनेवाली वह मन्थरा शयनागार में जाकर और सोती हुई कैकेयी को जगाकर उससे बोली—

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते।
उपप्लुतमघौघेन किमात्मानं न बुध्यसे॥ १२॥

हे मूढ! उठ! पड़ी-पड़ी क्या सोती है? तेरे ऊपर तो बड़ा भारी भय आ रहा है। क्या तू अपने दु:ख को भी नहीं समझती?

अक्षय्यं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम्।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥ १३॥

हे देवि! अब तेरे सत्यानाश का समय आ पहुँचा है, क्योंकि राजा दशरथ श्रीराम को युवराज बनाना चाहते हैं।

उपवाह्य स दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके॥ १४॥

उस दुष्टात्मा दशरथ ने भरत को तो तेरे माता-पिता के घर भेज दिया है। अब वह कल प्रातः ही निष्कण्टक राज्य पर राम का अभिषेक करना चाहता है।

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात्सा शुभानना।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी॥ १५॥

मन्थरा के वचन सुन हर्ष-परिपूर्ण सुन्दरमुखी कैकेयी शरत्कालीन चन्द्रमा के समान शय्या से उठी।

अतीव सा तु संहृष्टा कैकेयी विस्मयान्विता।
एकमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्॥ १६॥

उसने अत्यन्त हर्षित एवं आश्चर्य-चकित हो अपना एक बहुमूल्याभूषण कुब्जा को प्रदान किया।

दत्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा।
कैकेयी मन्थरां दृष्ट्वा पुनरेवाब्रवीदिदम्॥ १७॥

नारी-श्रेष्ठ कैकेयी मन्थरा को अपना आभूषण देकर और उसकी ओर देखकर बोली—

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यासि परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं भूयः किं वा करोमि ते॥ १८॥

हे मन्थरे! तूने मुझे परम प्रिय संवाद सुनाया है। इस सुखद संवाद को सुनने के बदले में मैं तुझे और क्या उपहार दूँ?

रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥ १९॥

मैं राम और भरत में कोई विशेष भेद नहीं देखती, अतः महाराज यदि श्रीराम को राज्य देते हैं तो मुझे उनके कार्य से सन्तोष है।

सप्तमः सर्गः (७)

मन्थरा-कैकेयी संवाद—

मन्थरा तवभ्यसूयैनामुत्सृज्याभरणं च तत्।
उवाचेदं तो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता॥ १॥

कैकेयी की बात सुनकर, कैकेयी द्वारा प्रदत्त आभूषण को परे फेंककर उसका अनादर करते हुए मन्थरा बड़े क्रोध और दु:ख के साथ कहने लगी—

हर्षं किमिदमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे॥ २॥

हे मूर्खे! तू शोक के स्थान पर हर्षित क्यों हो रही है? क्या तुझे यह नहीं सूझता कि तू शोकसागर में डूबी जा रही है।

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत्।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम्॥ ३॥

मुझे तेरी दुर्बुद्धि पर तरस आता है, क्या कोई भी बुद्धिमती स्त्री अपने लिए मृत्यु के समान, सौत के शत्रु-सदृश पुत्र की उन्नति देखकर प्रसन्न हो सकती है।

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद्भयम्।
तद्विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते॥ ४॥

रामचन्द्र के ही समान भरत का भी राज्य पर अधिकार है, इसलिए राम को भरत से भय है, यह ठीक भी है, क्योंकि डरे हुए से ही भय हुआ करता है। यही सोच कर मैं दु:खी हूँ। (क्योंकि जब राम राजा होंगे तो भरत को मरवा डालेंगे।)

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।
भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम्॥ ५॥

श्रीराम राजनीति-विशारद हैं। वे परम चतुर और समयानुसार तुरन्त कार्य करनेवाले हैं, अतः भरत को रामचन्द्र से भय उपस्थित देख मैं भय से काँप रही हूं।

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः॥ ६॥

निश्चय ही इस समय तो कौसल्या सौभाग्यवती है जिसके पुत्र श्रीराम का कल प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र में ब्राह्मणों द्वारा राज्याभिषेक होगा।

प्राप्तां सुमहतीं प्रीतिं प्रतीतां तां हतद्विषम्।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीव त्वं कृताञ्जलिः॥ ७॥

तुझे कौसल्या के सामने, जो सम्पूर्ण पृथिवी की स्वामिनी होगी, जो प्रीति को प्राप्त और जिसके शत्रु नष्ट हो जायेंगे—हाथ जोड़ कर दासी के समान खड़ा रहना होगा।

एवं चेत्त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यभावं गमिष्यति॥ ८॥

इस प्रकार हमारे साथ तुझे भी कौसल्या की दासी बनना पड़ेगा और तेरा पुत्र भरत राम का दास बनेगा।

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः।
रामस्यैव गुणान्देवी कैकेयी प्रशशंस ह॥ ९॥

मन्थरा को इस प्रकार प्रसन्नता से राम की निन्दा करते हुए देख कैकेयी श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुए कहने लगी—

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्शुचिः।
रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति॥ १०॥

श्रीराम धर्मज्ञ, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी, पवित्र और महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं अतएव वे ही सब प्रकार से राज्य पाने के योग्य हैं।

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च सोऽनुशुश्रुते हि माम्॥ ११॥

मुझे जैसा भरत प्रिय है वैसा ही तथा उससे भी अधिक राम प्रिय हैं, क्योंकि राम कौसल्या से भी अधिक मेरी सेवा करते हैं।

राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तथा।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातृंस्तु राघवः॥ १२॥

यदि श्रीराम को राज्य मिलेगा तो वह राज्य भरत का ही है, क्योंकि श्रीराम अपने भाइयों को भी अपने समान ही मानते हैं।

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ १३॥

कैकेयी की बातें सुन मन्थरा बहुत दुःखी हुई और दीर्घनिःश्वास लेकर बोली—

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे॥ १४॥

अनर्थ को सर्थ समझनेवाली अरी मूर्खे! शोक के महासागर में डूबती हुई भी तू अपने आपको नहीं समझती?

भविता राघवो राजा राघवस्यानु यः सुतः।
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते॥ १५॥

जब श्रीराम राजा बनेंगे तो उनके पश्चात् उनका पुत्र राजा होगा। इस प्रकार भरत तो राज्य से भ्रष्ट ही हो जायेगा।

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम्।
देशान्तरं वा नयिता लोकान्तरमथापि वा॥ १६॥

मैं निश्चयपूर्वक कहती हूँ कि राम अकण्टक राज्य पाकर भरत को या तो देश-निकाला दे देगा अथवा उसे जान से मरवा डालेगा।

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम्॥ १७॥

लक्ष्मणजी राम की रक्षा करेंगे और राम लक्ष्मण की। इन दोनों का भ्रातृत्व अश्विनीकुमारों की भाँति प्रसिद्ध है।

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किञ्चित्करिष्यति।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादिति न संशयः॥ १८॥

अतएव श्रीराम लक्ष्मण का कुछ भी अनिष्ट नहीं करेंगे, परन्तु भरत का अनिष्ट करने में वे कभी नहीं चूकेंगे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

तस्माद्राजगृहाद्देवि वनं गच्छतु ते सुतः।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव॥ १९॥

इसलिए मेरी समझ में तो इसी में तुम्हारी भलाई है कि भरतजी ननिहाल से ही भागकर वन में चले जायें। (क्योंकि मारे जाने की अपेक्षा वन में रहना उत्तम है। यदि जीते रहे तो कभी अच्छे दिन आयेंगे ही।)

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यातेयत्[१]॥ २०॥

तूने अपने सौभाग्य के मद में भरकर कौसल्या के साथ जो दुर्व्यवहार किया है क्या कौसल्या तुझसे उस सबका बदला नहीं लेगी?

➤ अष्टमः सर्गः ➤ (८)

कैकेयी का कोपभवन-प्रवेश—

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत्॥ १॥

जब मन्थरा ने कैकेयी को इस प्रकार की पट्टी पढ़ाई तब क्रोध के मारे कैकेयी का मुख लाल हो गया। वह दीर्घ एवं गरम श्वास लेकर बोली—

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम्।
यौवराज्ये च भरतं क्षिप्रमेवाभिषेचये॥ २॥

मैं आज ही राम को वन में भेजती हूँ और शीघ्र ही भरत को युवराज पद पर अभिषिक्त कराती हूँ।

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन मन्थरे।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथञ्चन॥ ३॥

हे मन्थरे! इस समय कोई ऐसा उपाय सोच जिससे भरत को ही राज्य मिले, राम को किसी भी प्रकार राज्य न मिले।

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ ४॥

कैकेयी के ऐसा कहने पर पापिन मन्थरा श्रीराम का सर्वनाश करने के लिए कैकेयी से बोली—

पुरा दैवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः।
अगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत॥ ५॥

एक बार जब तुम्हारे पति देवासुर-संग्राम में सब राजर्षियों सहित इन्द्र की सहायता करने गये थे तब तुझे भी अपने साथ ले गये थे।

तत्राकरोन्महद्युद्धं राजा दशरथस्तदा।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः॥ ६॥

वहाँ पर महाराज दशरथ ने उन असुरों के साथ घोर युद्ध किया। राक्षसों ने भी महाराज के सारे शरीर को छलनी कर डाला।

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया॥ ७॥

जब महाराज मूर्छित हो गये तब तू उन्हें रणक्षेत्र से बाहर ले गई। जब वहाँ भी उन पर प्रहार होने लगे तब तुमने बड़े यत्न से उनकी रक्षा की।

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरौ॥ ८॥
गृह्णीयामिति तत्तेन तथेत्युक्तं महात्मना।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथिता पुरा॥ ९॥

हे शुभदर्शने! उस समय महाराज दशरथ ने प्रसन्न होकर तुझे दो वर दिये और कहा कि जो इच्छा हो सो माँग। तब तूने कहा था कि अच्छा जब आवश्यकता होगी तब माँग लूँगी। मैं तो इन सब बातों से अनभिज्ञ थी। वहाँ से लौट कर तूने ही ये सब बातें मुझे बताई थीं।

तौ वरौ याच भर्तारं भरतस्याभिषेचनम्।
प्रव्राजनं च रामस्य त्वं वर्षाणि चतुर्दश॥ १०॥

उन वरों में से एक से तू भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से श्रीराम का चौदह वर्षों के लिए वनवास माँग ले।

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति॥ ११॥

इन चौदह वर्षों में जब तक राम वन में रहेंगे तब तक सब प्रजाजनों का तेरे पुत्र के प्रति अनुराग बढ़ जाने से इसका राज्य अटल हो जायेगा।

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी॥ १२॥

हे अश्वपति पुत्रि! इन वरों को पाने के लिए तू मैले वस्त्र पहन कर बिना बिछौना बिछाये क्रुद्ध होकर कोपभवन में जाकर भूमि पर लेट जा।

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः।
रुदन्ती चापि तं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा॥ १३॥

जब महाराज दशरथ आवें तब तू न तो उनकी ओर देखना और न उनसे कुछ बात करना—केवल शोकातुर होकर भूमि पर पड़ी रहना।

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः।
त्वत्कृते स महाराजो विशेदपि हुताशनम्॥ १४॥

तुम अपने पति को सदा प्रिय रही हो, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। तुम्हारे लिए महाराज अग्नि में भी कूद सकते हैं।

मणिमुक्तासुवर्णं च रत्नानि विविधानि च।
दद्याद्दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः॥ १५॥

परन्तु स्मरण रखना—महाराज तुझे कितनी ही मणियाँ, मोती, सोना और भाँति-भाँति की बहुमूल्य वस्तुएँ देना चाहें तो तू उनमें फँसना मत।

यदा तु ते वरं दद्यात्स्वयमुत्थाप्य राघवः।
व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम्॥ १६॥

जब महाराज दशरथ स्वयं तुझे भूमि से उठा कर वरदान देने को समुद्यत हों तब महाराज से प्रतिज्ञा आदि कराकर यह वर माँगना—

रामं प्रव्राजयारण्ये नव वर्षाणि पञ्च च।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्याः पार्थिवर्षभः॥ १७॥

हे नृपश्रेष्ठ! राम को चौदह वर्ष के लिए वन में भेजो और भरत का राज्याभिषेक करो।

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति।
भरतश्च हतामित्रस्तव राजा भविष्यति॥ १८॥

इतने दीर्घ समय तक वन में रहने पर राम की प्रीति लोगों के हृदय से निकल जायेगी और तुम्हारे पुत्र भरत शत्रु-रहित होकर राजा बनेंगे।

येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति।
तेन कालेन पुत्रस्ते रूढमूलो भविष्यति॥ १९॥

जब तक राम वन से लौटेंगे तब तक भरत के राज्य की नींव दृढ़ हो जायेगी।

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणि राजानमनुदर्शय॥ २०॥

हे कल्याणि! जब जल बहकर बाहर निकल जाये तब बांध बाँधने से क्या लाभ? अतः उठ और अपने कार्यसाधन में लग और महाराज को यह दिखला दे कि मैं क्या कर सकती हूँ।

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता॥ २१॥

इस प्रकार मन्थरा द्वारा प्रोत्साहित की हुई, विशाल नेत्रोंवाली कैकेयी, सौभाग्य के मद से गर्वित मन्थरा सहित कोप-भवन में पहुँची।

अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च॥ २२॥

वहाँ पहुँचते ही कैकेयी ने कई लाख के मोतियों के एक हार को तथा अन्य मूल्यवान् आभूषणों को उतार कर पृथिवी पर फेंक दिया।

तया तान्यपविद्धानि मूल्यान्याभरणानि च।
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः॥ २३॥

भूमि पर बिखरे हुए वे आभूषण ऐसे जान पड़ते थे जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं।

क्रोधागारे निपतिता सा बभौ मलिनाम्बरा।
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किन्नरी॥ २४॥

मैले वस्त्र पहने हुए कोप-भवन में पड़ी कैकेयी सब केशों को एकत्र कर और एक दृढ़ गाँठ लगा स्वर्गलोक से गिरी हुई किन्नरी के समान जान पड़ती थी।

ततो हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत्॥ २५॥

उस समय स्वर्ण के समान रंगवाली कैकेयी, कुबड़ी मन्थरा की बातों में आ, भूमि पर लेटकर मन्थरा से कहने लगी—

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यति क्षितिम्॥ २६॥

हे कुब्जे! या तो तुझे महाराज को मेरे यहाँ मरने की सूचना देनी पड़ेगी या राम को वन जाना पड़ेगा और भरत को राज्य मिलेगा।

न सुवर्णेन मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते॥ २७॥

अब मुझे आभूषणों से, रत्नों से और स्वादिष्ट भोजनों से कोई प्रयोजन नहीं है। अब तो यदि राम का राज्याभिषेक हुआ तो मेरे प्राणों का यहीं अन्त हो जायेगा।

नवमः सर्गः (९)

दशरथ द्वारा कैकेयी की अनुनय-विनय—

आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम्।
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी॥ १॥

उधर महाराज दशरथ मन्त्रियों को राम के राज्याभिषेक की आज्ञा देकर यह शुभ एवं प्रिय संवाद अपनी रानियों को सुनाने के लिए अन्तःपुर में आये।

स कैकेया गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः।
न ददर्श प्रियां राजा कैकेयीं शयनोत्तमे॥ २॥

सबसे पहले वे कैकेयी के श्रेष्ठ भवन में पधारे, परन्तु वहाँ उन्हें कैकेयी दिखाई नहीं दी।

अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च।
न हि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत॥ ३॥

प्रिया भार्या कैकेयी को वहाँ न देखकर वे प्रतिहारियों से पूछने लगे। जब उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला तो वे बहुत उदास हुए, क्योंकि इससे पूर्व कैकेयी ने उस समय का अतिक्रमण कभी नहीं किया था।

यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम्।
प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता रचिताञ्जलिः॥ ४॥

महाराज ने विवेकशून्य और स्वार्थलिप्सु कैकेयी के बारे में एक प्रतिहारी से पूछा। उसने हाथ जोड़कर डरते हुए कहा—

दैव दीवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता।
प्रतिहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः॥ ५॥

हे देव! देवीजी तो अत्यन्त कुपित होकर क्रोधागार में चली गयी हैं। प्रतिहारी की बात सुन कर महाराज अत्यन्त दुःखी हुए।

तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम्।
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः॥ ६॥

कोपभवन में जाकर उन्होंने देखा कि कैकेयी अत्यन्त बुरी अवस्था में भूमि पर पड़ी हुई है। यह देख महाराज अति सन्तप्त हुए।

परिमृश्य च पाणिभ्यामभिसन्त्रस्तचेतनः।
कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम्॥ ७॥

वे डरते-डरते अपने हाथों से उसके शरीर को सहलाने लगे, फिर कामातुर महाराज दशरथ ने उस कमलनयनी कैकेयी से कहा—

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम्।
देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता॥ ८॥

हे देवि! हमें पता नहीं तेरे क्रोध का कारण क्या है? क्या किसी ने तुम्हारी निन्दा की है अथवा किसी ने तुम्हारा अपमान किया है।

भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनी।
सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभिंतुष्टाश्च सर्वशः॥ ९॥

हे प्राणप्रिये! तुम व्याधिग्रस्त मनुष्य की भाँति भूमि पर क्यों लेट रही हो? हमारे यहाँ सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले और हमारे द्वारा दान-मानादि से सन्तुष्ट कुशल वैद्य हैं।

सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि।
कस्य वा ते प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम्॥ १०॥

वे वैद्य तुझे रोग-रहित कर देंगे। हे भामिनी! मुझे यह तो बताओ कि तुम्हें क्या रोग है? यदि तुम्हें कोई रोग नहीं है तो क्या किसी का प्रिय करना चाहती हो अथवा किसी ने तुम्हारा अप्रिय किया है।

कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्।
मा रोदीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम्॥ ११॥

हे देवि! किसका उपकार किया जाये और किसका अपकार किया जाये। तुम रोओ मत और अपने शरीर का परिशोषण मत करो।

अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् कोऽप्यकिञ्चनः॥ १२॥

हे देवि! तुम्हारी इच्छानुसार किस अवध्य को मृत्युदण्ड दिया जाये किस वध्य को मुक्त किया जाये। किस दरिद्र को धनवान बनाया जाये और किस धनी

का धन हरण किया जाये।

करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे।
यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा॥ १३॥

मैं धर्म से अपने पुण्य-कर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं वही करूँगा। देख! इस पृथिवी-मण्डल पर जहाँ तक सूर्य घूमता है वहाँ तक सारी पृथिवी मेरे राज्याधिकार में है।

तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम्।
तत्ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव भास्करः॥ १४॥

हे कैकेयी! तू ठीक-ठीक बता तुझे किस बात का डर है। हम उस डर को इसी प्रकार दूर कर देंगे जैसे सूर्यदेव कुहरे को दूर कर देते हैं।

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम्।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे॥ १५॥

इस प्रकार महाराज द्वारा मनाये जाने पर कैकेयी कुछ-कुछ आश्वस्त हुई, परन्तु महाराज को पीड़ित करने के लिए उनसे अति दुःखदायी एवं अप्रिय वचन कहने लगी।

❮ दशमः सर्गः ❯ (१०)

कैकेयी का वर माँगना—

नास्मि विप्रकृता देव केन चिन्नावमानिता।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तमिच्छामि त्वया कृतम्॥ १॥

हे देव! न तो मैं रोगग्रस्त हूँ और न ही किसी ने मेरा अपमान किया है। मेरा अभिप्राय तो कुछ और है जिसे मैं आपसे पूरा कराना चाहती हूँ।

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि।
अथ ते व्याहरिष्यामि यदभिप्रार्थितं मया॥ २॥

यदि आप मेरा वह कार्य करने को उद्यत हों तो उसे करने की प्रतिज्ञा करो। तत्पश्चात् मेरा जो अभीष्ट है उसे मैं कहूँगी।

तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मितः।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुविस्थिताम्॥ ३॥

कैकेयी का यह वचन सुन काम से पीड़ित महाराज दशरथ भूमि पर पड़ी हुई कैकेयी के केशों को सहलाते हुए उससे बोले—

अविलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम।
मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते॥ ४॥

हे सौभाग्यगर्विते! क्या तुझे पता नहीं कि पुरुषसिंह श्रीराम को छोड़ कर मुझे अन्य कोई भी प्राणी तुझसे प्रिय नहीं है।

तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेच्छसि॥ ५॥

तुमसे भी अधिक प्रिय, शत्रुओं में अजेय, सबसे मुख्य श्रीराम की मैं शपथ खाता हूँ। तू जो चाहती है सो कह।

बलमात्मनि पश्यन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे॥ ६॥

अपने स्नेह-बल को देखते हुए तुझे मुझ पर सन्देह नहीं करना चाहिए। मैं अपने पुण्य-कर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं तेरी कामना को पूर्ण करूँगा।

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम्॥ ७॥

महाराज की बातों से प्रसन्न हो कैकेयी ने सामने खड़े हुए यमराज के समान महाभयंकर अपनी वह बात राजा से कही—

स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् दैवासुरे रणे।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा॥ ८॥

हे राजन्! उस पुरानी घटना को स्मरण करो जब देवासुर-संग्राम में शत्रु ने तुम्हें पराक्रमहीन कर दिया था और तुम मृतप्राय हो गये थे।

तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ॥ ९॥

हे देव! उस समय मैंने जागकर आपकी प्राणरक्षा के लिए सारथि बनकर यत्न किया था। मेरे द्वारा रक्षित हुए होश में आने पर आपने मुझे दो वर दिये थे।

तौ तु दत्तौ वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम्।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे सत्यसङ्गर:॥ १०॥

हे देव! सत्यवादिन्! पृथिवीपाल! उन दोनों वरों को मैंने तुम्हारे पास धरोहर के रूप में रख दिया था। उन्हीं दोनों वरों को अब मैं तुमसे माँगती हूँ।

योऽभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पित:।
अनेनैवाभिषेकेन भरतो मेऽभिषिच्यताम्॥ ११॥
नवपञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रित:।
चीराजिनजटाधारी रामो भवतु तापस:॥ १२॥

श्रीराम के राज्याभिषेक के लिए जो सामान एकत्र किया गया है उससे मेरे पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया जाये। (यह तो एक वर हुआ और दूसरा वर यह है कि) श्रीरामचन्द्रजी जटावल्कल धारण कर चौदह वर्ष तक तपस्वियों के वेश में वनों में रहें।

एष मे परम: कामो दत्तमेव वरं वृणे।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वनम्॥ १३॥

बस यही मेरी परम कामना है। मैं आपके दिये हुए वर ही माँगता हूँ। मैं आज ही राम को वन जाते हुए देखना चाहती हूँ।

≺एकादश: सर्ग:≻ (११)

दशरथ का परिताप—

तत: श्रुत्वा महाराज: कैकेय्या दारुणं वच:।
चिन्तामभिसमापेदे शोकोपहतचेतन:॥ १॥

कैकेयी के इन कठोर वचनों को सुनकर महाराज दशरथ बहुत चिन्तित हुए और शोक से मूर्छित हो गये।

चिरेण तु नृप: संज्ञां प्रतिलभ्य सुदु:खित:।
कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्ध: प्रदहन्निव चक्षुषा॥ २॥

देर तक मूर्छित रहकर जब वे सचेत हुए तो अत्यन्त दु:खी हुए और क्रोध में भरकर कैकेयी को इस प्रकार देखा मानो उसे भस्म कर देंगे। तदनन्तर वे बोले—

नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि।
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा॥ ३॥

अरी नृशंसे! दुष्ट चरित्रवाली! कुल का सत्यानाश करनेवाली! हमने या राम ने तेरा क्या बिगाड़ा है?

सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघव:।
तस्यैव त्वमनर्थाय किन्निमित्तमिहोद्यता॥ ४॥

श्रीराम तो तेरे साथ सदा माता के समान व्यवहार करते हैं, फिर तू उसका अनर्थ करने के लिए क्यों तैयार हुई है?

जीवलोको यथा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम्।
अपराधं किमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम्॥ ५॥

जब सब लोग श्रीराम के गुणों की प्रशंसा कर रहे हैं तब मैं कौन-सा दोष लगाकर ऐसे प्रिय पुत्र का त्याग करूँ?

कौसल्यां वा सुमित्रां वा त्यजेयमपि वा श्रियम्।
जीवितं वात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम्॥ ६॥

मैं कौसल्या, सुमित्रा और अपने राज्य को भी त्याग सकता हूँ, परन्तु अपने जीवनस्वरूप पितृभक्त श्रीराम को नहीं त्याग सकता।

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना।
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम्॥ ७॥

सूर्य के बिना संसार स्थिर रह सकता है, जल के बिना अन्न जीवित रह सकता है, परन्तु श्रीराम के बिना मेरे शरीर में प्राण नहीं रह सकते।

तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये।
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे॥ ८॥

हे अनिष्ट निश्चय करनेवाली! तू अपना हठ छोड़ दे। मैं अपना सिर तेरे चरणों में रखता हूँ, तू प्रसन्न हो जा।

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः॥ ९॥

हे देवि! नीति-सम्पन्न इक्ष्वाकुओं के कुल में यह बड़ा अनर्थ हो रहा है, क्योंकि राज्याभिषेक के मङ्गल अवसर पर तेरी मति विकृत हो रही है। भाव यह है कि अच्छे लोगों की बुद्धि बिगड़ने से कुल में अनिष्ट[1] होता है।

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना।
बहुशो हि सुबाले त्वं कथाः कथयसे मम॥ १०॥

हे बाले! तुम मुझसे बहुधा यह कहा करती थी कि तुझे महात्मा भरत के समान ही श्रीराम प्रिय हैं।

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च॥ ११॥

हे भीरु! हे देवि! उसी धर्मात्मा यशस्वी राम का चौदह वर्ष तक वन में रहना तुझे कैसे अच्छा लगता है।

रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा।
विशेषं त्वयि तस्मात्तु भरतस्य न लक्षये॥ १२॥

भरत की अपेक्षा श्रीराम तेरी अधिक सेवा करते हैं। हमें तो तुझमें राम से अधिक भरत की भक्ति है—ऐसा दिखाई नहीं देता।

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम्।
कस्ते भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र मनुजर्षभात्॥ १३॥

तनिक सोच तो सही श्रीराम को छोड़कर और कौन तेरी इतनी सेवा, सम्मान और आज्ञा-पालन करेगा?

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥ १४॥

अन्तःपुर में सहस्रों स्त्रियों और नौकरों में से किसी के भी द्वारा श्रीराम का परिवाद=सकारण निन्दा या अपवाद=निष्कारण निन्दा नहीं सुनी गई।

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः॥ १५॥

मनुजश्रेष्ठ श्रीराम शुद्ध मन से सब प्राणियों को सान्त्वना देता हुआ देशवासियों को प्रिय कार्यों से अपने वश में रखता है।

सत्येन लोकाञ्जयति दीनान्दानेन राघवः।
गुरूञ्शुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान्॥ १६॥

श्रीराम प्रजा को सत्य से, दीनों को दान से, गुरुओं को सेवा से और युद्ध में शत्रुओं को धनुष द्वारा जीतता है।

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे॥ १७॥

सत्य, दान, तप, त्याग, मैत्री, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरुओं की सेवा—ये सब गुण श्रीराम में निश्चय ही विद्यमान हैं।

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम्।
पापमाशंससे राम महर्षिसमतेजसि॥ १८॥

हे देवि! विनययुक्त, देवों के समान उपमावाले और महर्षियों के समान तेजस्वी श्रीराम को तू वनवास का क्लेश क्यों देना चाहती है?

क्षमा यस्मिन् दमस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता।
अविहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम॥ १९॥

जिस राम में क्षमा, तप, त्याग, सत्यभाषण, धार्मिकता, कृतज्ञता और प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव जैसे अलौकिक सद्गुण विद्यमान हैं उस राम के बिना मेरी क्या दशा होगी?

---

१. किसी नीतिकार ने ठीक ही कहा है—
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले,
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति।
इस बात को सन्त तुलसीदासजी ने यूँ व्यक्त किया है—
जा को प्रभु दारुण दुःख देहीं।
ताकर मति पहले हरि लेहीं॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि॥ २०॥

हे कैकेयि! मैं वृद्ध हूँ। मेरा अन्त समय निकट है। इस समय मेरी अवस्था शोचनीय है। मैं तेरे समक्ष गिड़गिड़ा रहा हूँ। तू मेरे ऊपर दया कर।

पृथिव्यां सागरान्तायां यत्किञ्चिदधिगम्यते।
तत्सर्वं तव दास्यामि मा च त्वां मन्युराविशेत्॥ २१॥

इस समुद्र से घिरी हुई पृथिवी पर जो कुछ भी है, मैं वह सब कुछ तुझे देने के लिए तैयार हूँ, तू क्रोध मत कर।

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत्॥ २२॥

हे कैकेयि! मैं तेरे समक्ष हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पाँव छूता हूँ। तू राम की रक्षक बन और मुझे प्रतिज्ञा-भंग के पाप से बचा।

इति दुःखाभिसन्तप्तं विलपन्तमचेतनम्।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लतुम्॥ २३॥
पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रातरं वचः॥ २४॥

इस प्रकार शोक से सन्तप्त, विलाप करते हुए, उन्मत्त जैसी अवस्था में विद्यमान, कैकेयी को घूरते हुए, शोक-सागर से पार उतरने की बार-बार याचना करते हुए महाराज दशरथ से कैकेयी अत्यन्त क्रुद्ध होकर ये कठोर वचन बोली—

यदि दत्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि॥ २५॥

हे राजन्! यदि तुम वर देकर उसके लिए पश्चात्ताप कर रहे हो तो हे वीर! संसार में तुम्हें धार्मिक कौन कहेगा?

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम्॥ २६॥

देखो! तुम्हारे ही वंश में राजा शैब्य ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए बाज पक्षी को अपने शरीर का मांस देकर भी कबूतर के प्राणों की रक्षा की थी। इसी प्रकार राजा अलर्क ने अपने नेत्र निकाल कर एक अन्धे ब्राह्मण को दे दिये थे जिससे उन्हें उत्तम कीर्ति प्राप्त हुई।

सागरः समयं कृत्वा न वेलामतिवर्तते।
समयं माऽनृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन्॥ २७॥

मनुष्य की तो बात ही क्या, जड़ पदार्थ समुद्र भी नियम बाँध कर उस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता—अपने तट से बाहर नहीं जाता, इसलिए हे राजन्! पूर्व घटित बातों का स्मरण करते हुए अपनी प्रतिज्ञा को असत्य मत कीजिए।

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामे राज्येऽभिषिच्य च।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते[1]॥ २८॥

हे दुष्टात्मा राजन्! इस समय तेरी बुद्धि बिगड़ गई है, इसीलिए तू धर्म का परित्याग कर राम को राज्य पर अभिषिक्त करके कौसल्या के साथ आनन्दपूर्वक विहार करना चाहता है।

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वाऽनृतम्।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥ २९॥

अब चाहे धर्म हो या अधर्म, सत्य हो या असत्य, तुमने मेरे साथ जो प्रतिज्ञा की है, वह पूरी करनी होगी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते॥ ३०॥

यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर श्रीराम को राज्य दोगे तो तुम्हारे सामने ही मैं हलाहल विष का पान कर अपने प्राण दे दूँगी।

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात्॥ ३१॥

हे नरेन्द्र! मैं अपनी और भरत की शपथ खाकर तुमसे कहती हूँ कि मैं राम को वन में भेजे बिना किसी बात से सन्तुष्ट नहीं हो सकती।

१. कैकेयी का महाराज दशरथ के लिए 'दुर्मति' शब्द का प्रयोग सर्वथा अविवेकपूर्ण है।

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा॥ ३२॥

इतना कहकर कैकेयी चुप हो गई। महाराज विलाप करते रहे, परन्तु उसने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया।

स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम्।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत्॥ ३३॥

कैकेयी के श्रीराम को वन में भेजने के भयंकर निश्चय और उसकी शपथ को स्मरण कर महाराज दशरथ ने ''हा राम!'' कहकर एक दीर्घ निःश्वास लिया और जड़ से कटे हुए पेड़ की भाँति भूमि पर गिर पड़े।

दीनयाऽऽतुरया राजा इति होवाच कैकयीम्।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदर्शिता॥ ३४॥

फिर दीन और आतुर वाणी के साथ राजा ने कैकेयी से कहा—तुझे इस अनर्थ=अनिष्ट को अर्थ=इष्ट के रूप में किसने समझाया है?

नृशंसे पापसङ्कल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि।
किन्नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि॥ ३५॥

अरी नृशंसे! पापिन्! ओछे स्वभाववाली! हे कुकर्मिन्! मैंने या श्रीराम ने तेरा कौन-सा अपराध किया है?

न कथञ्चिदृते रामाद्भरतो राज्यमावसेत्।
रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्॥ ३६॥

राम के समक्ष भरत कभी भी राज्य ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि मैं भरत को श्रीराम से भी अधिक धर्मात्मा मानता हूँ।

किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः।
बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत्॥ ३७॥

देश-देशान्तरों से आये लोग मुझे क्या कहेंगे? आश्चर्य के साथ वे यही कहेंगे कि दशरथ निपट बाल-बुद्धि है, इतने दिनों तक इसने राज्य किस प्रकार किया।

किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते।
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम्॥ ३८॥

श्रीराम को वन में भेजने पर उसकी माता कौसल्या हमसे क्या कहेगी? और ऐसा अनिष्ट कार्य कर मैं उसे क्या उत्तर दूँगा?

यदा यदा च कौसल्या दासीवच्च सखीव च।
भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति[१]॥ ३९॥
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा।
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव॥ ४०॥

जब समय-समय पर कौसल्या, जो सेवा करने में दासी के समान, रहस्य में सखी के समान, धर्मकृत्यों में स्त्री के समान, हितैषियों में सगी बहन के समान, आग्रहपूर्वक सुस्वादु भोजन कराने में माता के समान, सदा प्रिय कामना करनेवाली (भला चाहनेवाली), सदा प्रिय बोलनेवाली, सभी पुत्रों से निरन्तर प्रेम करनेवाली, उपस्थित होती रही है तब-तब हे देवि! सत्कार करने योग्य होने पर भी मैंने तेरे कारण उसका सत्कार नहीं किया (कहीं तू यह न समझ ले कि मैं तुझसे प्रेम नहीं करता।)

इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि।
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम्॥ ४१॥

---

१. किसी नीतिज्ञ ने कहा है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी,
भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा।
धर्मेऽनुकूला क्षमया धरित्री,
भार्या च षाड्गुणवतीह दुर्लभा॥

कार्य में मन्त्री की भाँति परामर्श देनेवाली, सेवादि में दासी के समान काम करनेवाली, भोजन कराने में माता के समान, शयन के समय रम्भा के समान सुख देनेवाली, धर्म के अनुकूल चलनेवाली और क्षमा करने में पृथिवी के समान—इन छह गुणों से युक्त स्त्री दुर्लभ होती है। महाराज दशरथ को कौसल्या के रूप में ऐसी ही दुर्लभ पत्नी मिली हुई थी।

तेरे प्रति मैंने जो सद्व्यवहार किया था उसका आज मुझे उसी प्रकार पश्चात्ताप हो रहा है जिस प्रकार स्वादिष्ट, किन्तु कुपथ्य भोजन कर रोगी को पश्चात्ताप होता है।

अनार्या इति मामार्याः पुत्रविक्रायिकं ध्रुवम्।
धिक्करिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा॥ ४२॥

हा! आर्य=श्रेष्ठ पुरुष अब मुझे अनार्य और पुत्र-विक्रेता कहकर उसी प्रकार धिक्कारेंगे जिस प्रकार सुरापान करनेवाले ब्राह्मण को लोग गली-कूचों में सर्वत्र धिक्कारते हैं।

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति।
बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम्।
स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति॥ ४३॥

अवश्य ही सारा संसार यह कहकर हमारी निन्दा करेगा कि राजा दशरथ बड़ा कामी और लड़क-बुद्धिवाला है जो स्त्री के कहने से अपने प्यारे पुत्र को वन में भेज रहा है।

वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्षितः।
भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते॥ ४४॥

वेद के स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के धारण और गुरुओं की सेवा से जिसका शरीर कृश हो गया था अब गृहस्थाश्रम में जब उसके शरीर के हृष्ट-पुष्ट होने का समय आया तब उसे, फिर शारीरिक कष्ट उठाने पड़ेंगे।

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति।
राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम्॥ ४५॥

वन जाने के लिए कहते ही वह "बहुत अच्छा" ही कहेगा और श्रीराम के वन जाने पर सब लोग मुझे ही धिक्कारेंगे।

कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह।
प्रक्षिप्य नरके[1] सा त्वं कैकेयि सुखिता भव॥ ४६॥

हे कैकेयि! मुझे कौसल्या, सुमित्रा और तीनों पुत्रों को दुःख में धकेलकर तू सुखी हो।

प्रियं चेद्भरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत्।
मा स्म मे भरतः कार्षीत्प्रेतकृत्यं गतायुषः॥ ४७॥

यदि श्रीराम का वनगमन भरत को प्रिय लगे तो जब मैं मर जाऊँ तब भरत मेरा दाहकर्म-संस्कार न करे।

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि॥ ४८॥

जब मैं मर जाऊँ और पुरुषश्रेष्ठ राम वन में चला जाए तब तू विधवा होकर अपने पुत्र सहित राज्य करना।

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपराः सदा।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम्॥ ४९॥

स्त्रियों को धिक्कार है! ये धूर्त और स्वार्थ परायण[2] होती हैं। नहीं-नहीं, मैं सब स्त्रियों को ऐसा नहीं कहता, केवल भरत की माता को ही कहता हूँ।

प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसने॥ ५०॥

अरी केकयराज-कुलकलङ्किनी! चाहे तू उदास हो, चाहे कुपित हो (अथवा जल कर मर जा) तू विष खाकर मर जा, चाहे पत्थर से सिर फोड़ डाल अथवा गढ़ा खोदकर पृथिवी में समा जा, परन्तु तेरी इस कठोर बात को जिसके करने में मेरा सरासर अहित है, मैं कभी न मानूँगा।

---

१. रामायण के सुप्रसिद्ध टीकाकार गोविन्दराज ने नरक का अर्थ इस प्रकार किया है—

अत्र नरकः शब्देन दुःखं लक्ष्यते।

यहाँ नरक शब्द का अर्थ दुःख है।

२. महाराज दशरथ ने पहले दुःख एवं क्षोभ के कारण स्त्रीमात्र की निन्दा की, परन्तु जब उन्हें कौसल्या आदि का ध्यान आया तो उन्होंने अपने कथन का लक्ष्य केवल भरत की माता को बनाकर उसमें संशोधन कर दिया।

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनाऽऽत्मजेनात्मवतः कुतो रतिः।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि,
स्पृशामिपादावपि ते प्रसीद मे॥ ५१॥

श्रीराम के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता, फिर सुख और प्रीति की तो चर्चा ही व्यर्थ है। हे देवि! देख अब भी मान जा, मेरा अनिष्ट मत कर। मैं तेरे पैरों में पड़ता हूँ, मुझ पर प्रसन्न हो।

स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्
स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया।
पपात दैव्याश्चरणौ प्रसारिता—
वुभावसंस्पृश्य यथाऽऽतुरस्तथा॥ ५२॥

(जब धमकाने और खुशामद करने पर भी कैकेयी न मानी तब) महाराज दशरथ अनाथों के समान गिड़गिड़ाते हुए और अपने हृदय को कैकेयी के अधीन कर उसके फैलाये हुए चरणों को छूए बिना वैसे ही मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े जैसे मरणोन्मुख रोगी मूर्छा आने पर गिर पड़ता है।

द्वादशः सर्गः (१२)

दशरथ का विलाप—

अनर्थरूपासिद्धार्था ह्यभीता भयदर्शिनी।
पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना॥ १॥

जब पापरूपा कैकेयी का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ तो वह भय-रहित हो महाराज को भय दिखाते हुए, फिर वही वर माँगने के लिए बोली—

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः।
मम चेमं वरं कस्माद्विधारयितुमिच्छसि॥ २॥

हे महाराज! आप तो अपने-आपको सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ होने की श्लाघा किया करते हो, फिर मेरे वरों को क्यों नहीं देना चाहते?

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव॥ ३॥

कैकेयी के ऐसा कहने पर महाराज थोड़ी देर के लिए विकल हो गये, फिर वे क्रुद्ध होकर बोले—

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महाबाहुः स कथं त्यज्यते मया॥ ४॥

मैंने बहुत दिनों तक पुत्रहीन रहकर बड़े कष्टों से महापराक्रमी श्रीराम को प्राप्त किया है। अब मैं उसे कैसे त्याग सकता हूँ?

शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते॥ ५॥

शूरवीर, विद्वान्, क्रोध को जीतनेवाले=शान्त स्वभाव, क्षमाशील, कमलनयन श्रीराम को मैं कैसे निर्वासित कर सकता हूँ?

नृशंसे पापसंकल्पे रामं सत्यपराक्रमम्।
किं विप्रियेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम॥ ६॥

हे क्रूर एवं पापसंकल्पवाली कैकेयि! तू मेरे प्यारे और सत्य पराक्रमी श्रीराम को किसलिए वन भिजवा रही है।

तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः।
अस्तमभ्यागमत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत॥ ७॥

व्याकुल-चित्त महाराज दशरथ के इस प्रकार विलाप करते-करते सन्ध्या हो गई और रात चढ़ने लगी।

सा त्रियामा तथाऽऽर्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता।
राज्ञो विलपतस्तस्य न व्यभासत शर्वरी॥ ८॥

वह तीन प्रहरवाली रात्रि पूर्ण चन्द्रमा से युक्त होने पर भी दुःखी एवं विलाप करते हुए महाराज दशरथ को आनन्द न दे सकी।

तथैवोष्णं विनि:श्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः।
विललापार्तवद्दुःखं गगनासक्तलोचनः॥ ९॥

महाराज दशरथ बार-बार गर्म आहें भर, आकाश की ओर टकटकी लगाये, रोगपीड़ित की तरह विलाप करते हुए कहने लगे—

न प्रभातं तवेच्छामि निशे नक्षत्रभूषणे।
क्रियातां मे दया भद्रे रचितोऽयं मयाञ्जलिः॥ १०॥

हे नक्षत्रों से सुशोभित रात्रि! मैं तेरा प्रभातकाल नहीं चाहता (प्रभात होने पर मुझे रामगमनरूपी दुःख देखना पड़ेगा) हे कल्याणप्रद रात्रि! मेरे ऊपर दया कर मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूँ।

एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं चेदमब्रवीत्।
साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः॥ ११॥
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः।
शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम्॥ १२॥

यह कहकर महाराज कैकेयी से बोले—साधु आचरणवाले, दीन, तेरी शरण में आये हुए और थोड़े दिन जीनेवाले मुझ राजा पर हे देवि! कृपा कर। मैंने रामराज्याभिषेक की घोषणा एकान्त में नहीं, अपितु भरी सभा में की है (अतः यदि राम का राज्याभिषेक नहीं हुआ तो मेरी बड़ी निन्दा होगी, इसलिए तू मेरे ऊपर कृपा कर)।

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम्।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः॥ १३॥

उपर्युक्त वचनों से असन्तुष्ट, प्रतिकूल ही कहनेवाली, प्रिया कैकेयी को राम-वनवास के प्रति दृढ़ निश्चयवाली जानकर महाराज अत्यन्त दुःखी हुए। वे मूर्छित और चेष्टा-रहित होकर भूमि पर गिर पड़े।

◀ त्रयोदशः सर्गः ▶ (१३)

कैकेयी का उपालम्भ—

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि।
विचेष्टमानमुद्वीक्ष्य सैक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ १॥

पुत्र-शोक से पीड़ित, मूर्छित अवस्था में भूमि पर पड़े हुए और विविध प्रकार की चेष्टा करते हुए महाराज दशरथ को देख वह पापिन कैकेयी बोली—

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।
सत्यमाश्रित्य हि मया त्वं च धर्मप्रचोदितः॥ २॥

धर्म के मर्मज्ञ सत्य को ही परम धर्म बतलाते हैं, उसी सत्य का आश्रय लेकर मैं आपको धर्मपालन की प्रेरणा करती हूँ, अर्थात् वर देने के लिए तुमसे कहती हूँ।

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनैवाप्यते परम्॥ ३॥

एकमात्र प्राप्य स्थान ब्रह्म सत्य है, सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है, अक्षय वेद भी सत्य हैं, सत्य से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम॥ ४॥

हे राजन्! यदि सत्य में आपका विश्वास है तो सत्य का पालन करते हुए मुझे मेरे माँगे हुए दोनों वर दीजिए, क्योंकि आप श्रेष्ठ वर देनेवाले हो।

धर्मस्येहाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात्।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम्॥ ५॥

धर्म की अभिवृद्धि के लिए तथा मेरी प्रेरणा से आप श्रीराम को वन भेज दीजिए। मैं यह बात तीन बार कहती हूँ, अर्थात् मेरे निश्चय में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

समयं च ममाद्येमं यदि त्वं न करिष्यसि।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम्॥ ६॥

हे राजन्! यदि आप इस प्रतिज्ञा का पालन नहीं करेंगे तो आपके द्वारा परित्यक्त हुई मैं यहीं आपके सामने अपने प्राण त्याग दूँगी।

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया।
नाशकत्पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा॥ ७॥

जब कैकेयी ने निर्भीक होकर इस प्रकार कहा तब महाराज उस सत्यपाश से अपने-आपको उसी प्रकार मुक्त न कर सके जिस प्रकार राजा बलि इन्द्र के पाश से नहीं छूट सके थे।

उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत्।
स धुर्यो वै परिस्पन्दन्युगचक्रान्तरं यथा॥ ८॥

महाराज दशरथ का हृदय व्याकुल एवं चेहरा पीला हो गया और उनकी दशा दो पहियों के बीच में घूमनेवाले धुरे की भाँति अस्थिर हो गई।

विह्वलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव स भूपतिः।
कृच्छ्राद्धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ ९॥

चिन्ता और शोक के कारण महाराज इतने विह्वल हो गये कि उन्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण कर उन्होंने कैकेयी से कहा—

यस्ते मन्त्रकृतः[१] पाणिरग्नौ पापे मया धृतः।
तं त्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया॥ १०॥

हे पापिन्! विवाह के समय यज्ञाग्नि के सामने वैदिक मन्त्रोच्चारणपूर्वक मैंने जो तेरा हाथ पकड़ा था उसे आज मैं छोड़ता हूँ। तेरे पुत्र भरत का भी तेरे साथ त्याग करता हूँ। तुम दोनों से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति।
अभिषेकं गुरुजनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम्॥ ११॥

हे देवि! अब रात्रि समाप्त होने को है और सूर्य उदय होनेवाला है, अतः गुरुजन एवं प्रजाजन निश्चय ही मुझे राम-राज्याभिषेक के लिए जल्दी करने को कहेंगे।

रामाभिषेकसंभारैस्तदर्थमुपकल्पितैः।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम्॥ १२॥
त्वया सपुत्रया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया[२]।
व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम्॥ १३॥

श्रीराम के अभिषेक के लिए तैयार किये गये शुभ पदार्थों से राम का अभिषेक तो न होगा, किन्तु उनसे राम अन्त्येष्टि क्रिया करेगा। हे दुष्ट विचारवाली! याद रख, यदि तू रामाभिषेक में विघ्न डालेगी तो मेरी मृत्यु पर मेरी अन्त्येष्टि अपने पुत्र भरत सहित तुम मत करना, राम ही मेरी अन्त्येष्टि-क्रिया करेगा।

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रशालिनी॥ १४॥

महात्मा दशरथ के कैकेयी से इस प्रकार कहते-कहते चन्द्र तथा नक्षत्र-माला से सुशोभित रात्रि समाप्त हो गई और पुण्य प्रभात हो गया।

वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तदा।
उपसंगृह्य सम्भारान् प्रविवेश पुरोत्तमम्[३]॥ १५॥

उधर रात्रि व्यतीत होने पर अपने शिष्यों से घिरे

१. विवाह के समय वर निम्न मन्त्र का उच्चारण करता है—
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥
—ऋ० १०।८५।३६
हे वरानने! मैं सौभाग्य के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ। तू मुझ पति के साथ जरावस्था को सुखपूर्वक प्राप्त हो। सकल ऐश्वर्ययुक्त, न्यायकारी, सर्वजगदुत्पादक जगद्धारक परमात्मा और सभा-मण्डप में बैठे हुए विद्वान् गृहस्थाश्रम-कर्म के अनुष्ठान के लिए तुझे तेरे लिए सौंपते हैं।

२. मृतक शरीर को स्नान कराने से अन्त्येष्टि कर्म आरम्भ होता है, अतः उसे सलिल-क्रिया कहते हैं।

३. **प्रविवेश पुरोत्तमम्**—इससे जान पड़ता है कि वसिष्ठ आदि ऋषिगण जो महाराज दशरथ के मन्त्रिमण्डल में थे बस्ती में नहीं रहते थे। वे नगर के कोलाहल से दूर एकान्त-शान्त में रहा करते थे। वे आज के मिनिस्टरों की भाँति चालीस-चालीस और पचास-पचास सहस्र रुपये के फर्नीचर से सुसज्जित कोठियों में नहीं रहते थे।

हुए गुणसम्पन्न महर्षि वसिष्ठ ने अभिषेक सम्बन्धी सामग्रियों सहित पुरी में प्रवेश किया।

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम्।
विचित्रकुसुमाकीर्णां नानास्त्रग्भिर्विराजिताम्॥ १६॥

(जब महर्षि वसिष्ठ नगरी में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने देखा कि) राजधानी की सब सड़कें स्वच्छ थीं, उन पर छिड़काव किया गया था। जिधर देखो उधर ध्वजा एवं पताकाएँ फहरा रही थीं। भाँति-भाँति के विचित्र फूल सड़कों पर फैले हुए थे और स्थान-स्थान पर पुष्प-मालाएँ लटक रही थीं।

संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम्।
चन्दनागरुधूपैश्च सर्वतः परिधूपिताम्॥ १७॥
तां पुरीं समतिक्रम्य पुरन्दरपुरोपमाम्।
ददर्शान्तःपुरं श्रीमान् नानाध्वजगणायुतम्॥ १८॥

वह नगरी सुप्रसन्न मनुष्यों से भरी हुई थी, बाजार की दुकानों में अनेक प्रकार के माल भरे हुए थे। वह नगरी चन्दन और अगर की सुगन्धि से सुवासित हो रही थी। इस प्रकार की इन्द्रपुरी के तुल्य अयोध्या पुरी में से जाते हुए उन्होंने राजमहल को देखा। उस राजमहल पर नाना प्रकार के झण्डे फहरा रहे थे।

तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम्।
वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिर्विवेश ह॥ १९॥

भीड़ को हटाते हुए महर्षि वसिष्ठ किसी प्रकार अन्तःपुर के द्वार पर पहुँचे और अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए।

स त्वपश्यद्विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम्।
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम्॥ २०॥
तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम्।
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम्॥ २१॥

भीतर जाते समय अन्तःपुर के द्वार पर उनकी भेंट मनुजश्रेष्ठ दशरथ के सारथि शोभनमूर्ति सुमन्त्र से हुई। महातेजस्वी वसिष्ठजी ने क्रिया-कुशल सूत-पुत्र सुमन्त्र से कहा—महाराज को मेरे यहाँ आने का समाचार शीघ्र कह दीजिए।

इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महात्मनः।
स्तुवन्नृपशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम्॥ २२॥

महात्मा वसिष्ठ के इन वचनों को सुनकर सूत-पुत्र सुमन्त्र महाराज की स्तुति करते हुए अन्दर प्रविष्ट हुए।

स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान्।
वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे॥ २३॥

सुमन्त्र महाराज दशरथ के निकट पहुँच गये, परन्तु महाराज की वास्तविक स्थिति को न जानने के कारण प्रसन्नता प्रकट करनेवाले वचनों के द्वारा उनकी स्तुति करने लगे।

ततः स राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति।
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः।
वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि॥ २४॥

तब धर्मज्ञ महाराज, दशरथ, जो रामाभिषेक न होने के कारण दुःखी थे और जिनकी आँखें लाल हो गई थीं, सुमन्त्र की ओर देखकर बोले—हे सुमन्त्र! अपने स्तुति-वचनों से मेरे हृदय को और क्यों छेद रहे हो?

सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम्।
प्रगृहीताञ्जलिः किञ्चित्तस्माद्देशादपाक्रमत्॥ २५॥

सुमन्त्र महाराज दशरथ के ये करुण वचन सुन और उनकी दीनावस्था देखकर, हाथ जोड़ जहाँ पहले खड़े थे उस स्थान से कुछ दूर हट गये।

यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः।
यदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह॥ २६॥

जब महाराज दीनता के कारण और कुछ न बोल सके तब अपना काम बनाने में निपुण कैकेयी सुमन्त्र से बोली—

सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः।
प्रजागरपरिश्रान्तो निद्राया वशमेयिवान्॥ २७॥

हे सुमन्त्र! राम के अभिषेक के आनन्द में मग्न होने के कारण महाराज सारी रात जागते रहे। रातभर जागरण के कारण थके हुए इस समय वे सो रहे हैं।

तद् गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम्।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा॥ २८॥

अतः हे सूत! तुम शीघ्र जाओ और यशस्वी राजकुमार राम को यहाँ बुला लाओ। इस विषय में सोच-विचार की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि।
तत् श्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत्॥ २९॥

इस पर सुमन्त्र ने कहा—हे भामिनि! मैं महाराज की आज्ञा के बिना कैसे जाऊँ? मन्त्री की यह बात सुन महाराज दशरथ ने कहा—

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।
निर्जगाम स च प्रीत्या त्वरितो राजशासनात्॥ ३०॥

सुमन्त्र! मैं सुन्दर राम को देखना चाहता हूँ, जाओ और उसे शीघ्र लिवा लाओ। श्रीराम के बुलाने में महाराज की आज्ञा समझ वे प्रसन्न होते हुए वहाँ से चल दिये।

चतुर्दशः सर्गः (१४)

श्रीराम को बुलाने के लिए सुमन्त्र का प्रेषण—

स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रणिपत्य तम्।
निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत्॥ १॥

महाराज के वचनों को सुन और उनको प्रणाम कर सुमन्त्र राजभवन से चल दिये। वे अत्यन्त प्रसन्न थे कि आज राम का राज्याभिषेक होगा।

प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम्।
हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन्॥ २॥

सुमन्त्र रंग-बिरंगी ध्वजा और पताकाओं से सुशोभित राजमार्ग पर उपस्थित हो इधर-उधर देखते-भालते हर्षित होते हुए शीघ्रता से चलने लगे।

ततो ददर्श रुचिरं कैलासशिखरप्रभम्।
रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम्॥ ३॥

थोड़ी ही देर में सुमन्त्र ने मनोहर कैलास पर्वत के शिखर के समान उज्ज्वल और इन्द्र-भवन के समान सुन्दर राम-भवन को देखा।

उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः।
उपादाय समाक्रान्तैस्तथा जानपदैर्जनैः॥ ४॥

उस समय वहाँ अनेक लोग हाथ जोड़े हुए उपस्थित थे। वहाँ अनेक राष्ट्रों के लोग भी थे जो श्रीराम को उपहार देने के लिए भेंट की वस्तुएँ लिये हुए उपस्थित थे।

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम्।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित्॥ ५॥

सुमन्त्र अन्तःपुर के उस द्वार को जिस पर लोगों की बड़ी भीड़ थी लाँघ कर भीतर के द्वार पर पहुँचे, जहाँ भीड़ न थी।

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः।
तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया॥ ६॥

द्वारपालों द्वारा सुमन्त्र के आने का समाचार सुन और उन्हें अपने पिता का अन्तरङ्ग समझ कर श्रीराम ने उन्हें भीतर ही बुलवा लिया जिससे सुमन्त्र प्रसन्नता अनुभव करे।

तं वैश्रवणसङ्काशमुपविष्टं स्वलंकृतम्।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे॥ ७॥

सुमन्त्र ने भीतर जाकर देखा कि श्रीराम गद्दा-चादर आदि से सुसज्जित स्वर्ण-पलंग पर, कुबेर जैसे आभूषण धारण किये हुए बैठे हैं।

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा।
ववन्दे वरदं वन्दी विनयज्ञो विनीतवत्[१]॥ ८॥

श्रीराम अपने तेज से मध्याह्न के सूर्य की भाँति देदीप्यमान हो रहे थे। शिष्टाचार में निष्णात सुमन्त्र ने

१. अनुप्रासालंकार की कैसी सुन्दर छटा है!

वरदाता श्रीराम का नम्रतापूर्वक अभिवादन किया।

प्राञ्जलिस्तु सुखं पृष्ट्वा विहारशयने स्थितम्।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः॥ ९॥

महाराज से सम्मानित सुमन्त्र ने हाथ जोड़कर शय्या पर विराजमान श्रीराम से कुशल-क्षेम पूछकर यह कहा—

कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति।
महिष्या सह कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम्॥ १०॥

हे कौसल्या के सुपुत्र! कैकेयी सहित महाराज दशरथ आपको देखना चाहते हैं। आप वहाँ शीघ्र चलिए।

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह॥ ११॥

सुमन्त्र की बात सुन पुरुषसिंह, तेजस्वी श्रीराम अति प्रसन्न हुए और आदरपूर्वक सीताजी से बोले—

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम्॥ १२॥

हे देवि! माता कैकेयी और पिताजी एकत्र बैठे हुए अवश्य ही मेरे अभिषेक के विषय में विचार-विमर्श कर रहे हैं।

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा।
सञ्चोदयति राजानं मदर्थमदिरेक्षणे॥ १३॥

हे सुलोचने! मेरा अनुमान है कि मेरी हितैषिणी, चतुरा कैकेयी महाराज का अभिप्राय जानकर मेरे अभिषेक के लिए महाराज को प्रेरित कर रही होगी।

अहं शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम्।
सह त्वं परिवारेण सुखमाप्स्व रमस्व च॥ १४॥

अब मैं तुरन्त यहाँ से जाकर महाराज के दर्शन करूँगा। तुम यहाँ अपनी सखियों के साथ आनन्द मनाओ।

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात्॥ १५॥

इस प्रकार सीताजी को आदेश देकर, अपने राज्याभिषेक के लिए मङ्गलाचारपूर्वक श्रीराम सुमन्त्र के साथ अपने भवन से प्रस्थानित हुए।

ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तमम्।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः॥ १६॥

तदनन्तर दशरथनन्दन पुरुषसिंह श्रीराम उस दिव्य रथ पर आरूढ़ हुए जो अग्नि के समान चमकता था और जो व्याघ्रचर्म से मढ़ा हुआ था।

छत्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः।
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः॥ १७॥

श्रीराम के छोटे भाई लक्ष्मण हाथ में छत्र और चँवर लिये हुए रथ में पीछे बैठकर उनकी रक्षा कर रहे थे।

◀ पञ्चदशः सर्गः ▶ (१५)

श्रीराम का पिता के पास आगमन—

स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः।
सन्निवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तःपुरमभ्यगात्॥ १॥

चलते-चलते श्रीराम राजभवन में पहुँचे। वह राजभवन मेघ-समूह के समान जान पड़ता था। साथ के सब लोगों को अन्तिम ड्योढ़ी पर छोड़कर श्रीराम ने अन्तःपुर में प्रवेश किया।

स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे।
कैकेयीसहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता॥ २॥

अन्तःपुर में जाकर श्रीराम ने देखा कि महाराज दशरथ कैकेयी के साथ सुन्दर आसन पर विराजमान हैं। वे दीन और दुःखी हैं तथा उनके मुख का रंग फीका पड़ गया है।

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत्।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः॥ ३॥

श्रीराम ने जाते ही पहले अत्यन्त विनीत भाव से पिता के चरणों में शीश झुकाया, फिर बड़ी सावधानी से माता कैकेयी के चरणों का स्पर्श किया।

रामेत्युक्त्वा च वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम्॥ ४॥

श्रीराम को देखकर महाराज दशरथ केवल 'राम!' ही कह सके, क्योंकि फिर महाराज के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी तथा उनका कण्ठ गद्गद हो गया, फिर वे न तो कुछ देख ही सके और न बोल ही सके।

अचिन्त्यकल्पं हि पितुस्तं शोकमुपधारयन्।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि॥ ५॥

अपने पिताजी की ऐसी असम्भावित दशा देख और उनके शोक का कारण न जानकर श्रीराम ऐसे विक्षुब्ध हुए जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र क्षुब्ध होता है।

चिन्तयामास च तदा रामः पितृहिते रतः।
किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति॥ ६॥

सदा पिता के हित में लगे रहनेवाले राम विचारने लगे कि क्या कारण है कि पिताजी (इतनी प्रसन्नता के अवसर पर भी) न तो मुझसे प्रसन्न हैं और न ही मुझे आशीर्वाद दे रहे हैं।

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते॥ ७॥

और दिन तो पिताजी क्रुद्ध होने पर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाया करते थे, परन्तु आज मुझे देखकर उन्हें कष्ट क्यों हो रहा है।

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत्॥ ८॥

इस चिन्ता में श्रीराम का मुँह उतर गया। दीनों की भाँति शोक-पीड़ित और द्युतिहीन श्रीराम कैकेयी को अभिवादन करके ये वचन बोले—

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वं चैवैनं प्रसादय॥ ९॥

यदि अज्ञानवश मुझसे कोई अपराध हो गया हो जिससे पिताजी मुझसे अप्रसन्न हैं तो आप मुझे उस अपराध को बतायें और मेरी ओर से आप इन्हें प्रसन्न करें=मनायें।

अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे॥ १०॥

महाराज का कहना न मानकर, उनको असन्तुष्ट एवं कुपित कर मैं एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता।

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्माहतं वचः॥ ११॥

जब श्रीराम ने कैकेयी से उपर्युक्त वचन कहे तब निर्लज्जा कैकेयी ने यह धृष्टता एवं स्वार्थपूर्ण वचन कहा—

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किञ्चन।
किञ्चन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नाभिभाषते॥ १२॥

हे राम! न तो महाराज तुमसे अप्रसन्न हैं, न ही इनके शरीर में कोई रोग है। इनके मन में कोई बात है जिसे तुम्हारे भय से ये कहते नहीं।

यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम्॥ १३॥

यदि तुम यह बात स्वीकार करो कि महाराज उचित या अनुचित जो कुछ कहें उसे करोगे तो मैं तुम्हें सब कुछ बतला दूँ।

एतत्तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम्।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसन्निधौ॥ १४॥

कैकेयी के द्वारा कहे गये इन वचनों को सुनकर श्रीराम अत्यन्त व्यथित हुए। उन्होंने महाराज के समीप बैठी हुई कैकेयी से कहा—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके॥ १५॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥ १६॥

अहो! धिक्कार है!! हे देवि! आपको ऐसा कहना उचित नहीं। महाराज की आज्ञा से मैं जलती चिता में कूद सकता हूँ, हलाहल विष का पान कर सकता हूँ और समुद्र में छलाँग लगा सकता हूँ।[1] अपने गुरु,

१. कैसी अद्भुत पितृभक्ति है!

हितकारी, राजा और पिता के आदेश से ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे मैं न कर सकूँ ?

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते[1]॥ १७॥

हे देवि! महाराज दशरथ को जो भी अभीष्ट है वह तू मुझसे कह। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँगा। माता! सदा स्मरण रख राम दो प्रकार की बात नहीं कहता (राम जो कहता है, वही करता है।)।

तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम्॥ १८॥

तब अनार्या=क्षुद्राशया कैकेयी उस सरल स्वभाव एवं सत्यवादी श्रीराम से ये कठोर वचन बोली—

पुरा दैवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे॥ १९॥

हे राम! पूर्वकाल में देवासुर-संग्राम में शत्रु के बाणों से पीड़ित और मेरे द्वारा रक्षित तुम्हारे पिता ने मेरी सेवाओं से प्रसन्न होकर मुझे दो वर दिये थे।

अत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम्।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव॥ २०॥

हे राम! उन दो वरों में से मैंने एक से तो 'भरत का राज्याभिषेक' और दूसरे से 'तुम्हारा आज ही दण्डकारण्य-गमन' माँगा है।

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु॥ २१॥

हे नरश्रेष्ठ! यदि तुम अपने पिता को और अपने-आपको सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करना चाहते हो तो मैं जो कुछ कहूँ उसे सुनो।

सन्निदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम्।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च॥ २२॥

तुम पिता की आज्ञा के पालन में स्थिर=तत्पर रहो। जैसा कि उन्होंने प्रतिज्ञा की है—तुम्हें चौदह वर्ष के लिए वन में चले जाना चाहिए।

भरतस्त्वभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम्।
त्वदर्थे विहितं राजा तेन सर्वेण राघव॥ २३॥

हे राम! महाराज दशरथ ने तुम्हारे राज्याभिषेक के लिए जो सामग्री एकत्र कराई है उससे भरत का राज्याभिषेक हो।

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः।
अभिषेकमिमं त्यक्त्वा जटाजिनधरो वस॥ २४॥

तुम इस अभिषेक को त्याग कर तथा जटा और मृगचर्म धारण कर चौदह वर्ष तक दण्डक वन में वास करो।

भरतः कोसलपुरे प्रशास्तु वसुधामिमाम्।
नानारत्न-समाकीर्णां सवाजिरथकुञ्जराम्॥ २५॥

भरत कोसलपुर में रहकर विभिन्न प्रकार के रत्नों से भरपूर तथा घोड़े, रथ और हाथियों सहित इस राज्य का प्रशासन करे।

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः।
शोक-संक्लिष्ट-वदनो न शक्नोति निरीक्षितुम्॥ २६॥

यही कारण है कि महाराज करुणा से पूर्ण हैं, शोक से उनका मुख शुष्क हो रहा है और वे तुम्हारी ओर देख भी नहीं सकते।

एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम्॥ २७॥

हे रघुनन्दन! तुम महाराज की इस प्रतिज्ञा को

---

१. हनुमन्नाटक में इस सम्बन्ध में एक सुन्दर श्लोक है—

द्विः शरं नाभिसंधत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥

—हनुम० १।४८

राम दो बार बाण को धारण नहीं करते, अर्थात् दो बार एक बाण को नहीं चलाते अथवा एक ही बाण से शत्रु का काम तमाम कर देते हैं। राम दो बार आश्रितों को स्थापित नहीं करते, अर्थात् एक ही बार भली प्रकार यथास्थान नियुक्त कर देते हैं। वे याचकों को दो बार नहीं देते, अर्थात् एक ही बार में दरिद्रों के दारिद्र्य का नाश कर देते हैं। राम दो बातें नहीं कहते, अर्थात् एक बार कही हुई प्रतिज्ञा का पालन करते हैं।

पूर्ण करो। राम ! महान् सत्य के पालन द्वारा तुम महाराज का उद्धार करो।

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम्।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा तु पुत्रव्यसनाभितप्तः॥ २८॥

कैकेयी के इस प्रकार के कठोर वचन बोलने पर भी श्रीराम को कोई शोक नहीं हुआ, परन्तु महाराज दशरथ जो पहले ही दुःखी थे, राम के सम्भावित वियोग के कारण होनेवाले दुःख से अति व्याकुल हुए।

◀ षोडशः सर्गः ▶ (१६)

राम की प्रतिज्ञा—

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम्।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत्॥ १॥

शत्रु-संहारक श्रीराम मृत्यु के समान पीड़ा-दायक कैकेयी के उस अप्रिय वचन को सुनकर तनिक भी दुःखी न हुए और उससे बोले—

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
जटाजिनधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्॥ २॥

"बहुत अच्छा" ऐसा ही होगा। महाराज की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए मैं जटा और वल्कल वस्त्र धारण कर अभी नगर को छोड़कर वन को जाऊँगा।

परन्तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिन्दमः॥ ३॥

किन्तु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूँ कि अजेय तथा शत्रु-संहारक महाराज पूर्ववत् मुझसे बोलते क्यों नहीं।

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहतीव मे।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम्॥ ४॥

एक मानसिक दुःख मेरे हृदय को बुरी तरह से जला-सा रहा है कि महाराज ने भरत के अभिषेक के विषय में स्वयं मुझसे क्यों नहीं कहा।

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥ ५॥

महाराज की तो बात ही क्या मैं तो तेरे कहने से ही प्रसन्नतापूर्वक भाई भरत के लिए राज्य ही नहीं, अपितु सीता, अपने प्राण, इष्ट और धन सब कुछ वार सकता हूँ।

सा हृष्टा तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकेयी।
प्रस्थानं श्रद्दधाना हि त्वारयामास राघवम्॥ ६॥

श्रीराम के इस वचन को सुन कैकेयी अति प्रसन्न हुई। राम के वनगमन के सम्बन्ध में विश्वस्त होकर वह श्रीराम को शीघ्रता करने के लिए प्रेरित करने लगी।

तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम्।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि॥ ७॥

हे राम ! तुम वन जाने को उत्सुक हो तो विलम्ब ठीक नहीं। तुम शीघ्र ही वन की यात्रा आरम्भ करो।

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते।
नैतत्किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम्॥ ८॥

महाराज स्वयं तुमसे वन जाने के लिए नहीं कह रहे हैं, इसका कारण केवल लज्जा है, यह कोई बात नहीं। तुम इस चिन्ता को मन से निकाल दो।

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादभित्वरन्।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा॥ ९॥

हे राम ! जब तक तुम नगर से वन को नहीं चले जाते तब तक महाराज न स्नान करेंगे और न भोजन ही करेंगे।

धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः।
मूर्च्छितो न्यपतत्तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते॥ १०॥

कैकेयी के इन वचनों को सुनकर महाराज 'तुझे धिक्कार, शोक' यह कहते हुए और अत्यन्त शोक-पीड़ित हो तथा निःश्वास छोड़ते हुए मूर्च्छित होकर स्वर्ण-मण्डित पलंग पर गिर पड़े।

रामोऽप्युत्थाय राजानं कैकेय्याऽभिप्रचोदितः।
कशयेवाहतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः॥ ११॥

श्रीराम ने महाराज दशरथ को उठाया और कैकेयी द्वारा प्रेरित चाबुक से आहत घोड़े की भाँति के वन जाने के लिए शीघ्रता करने लगे।

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोपमम्।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत्॥ १२॥

भावी जीवन में घोर दुःखों को उत्पन्न करने-वाले दुष्टा कैकेयी के उन अप्रिय वचनों को सुनकर भी राम व्यथित नहीं हुए। वे कैकेयी से बोले—

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम्॥ १३॥

हे देवि! मैं धन=राज्यादि-ऐश्वर्य का आकांक्षी होकर संसार में नहीं रहना चाहता। मुझे तो आप केवल ऋषियों के समान धर्मनिष्ठ समझें।

यदत्रभवतः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत्॥ १४॥

यदि मैं अपने प्राण देकर भी पूज्य पिताजी का अभीष्ट कार्य कर सकूँ तो उस कार्य को किया हुआ ही समझो, अर्थात् पिताजी को प्रसन्न करने के लिए तो मैं प्राण भी दे सकता हूँ, वन जाने की तो बात ही क्या है!

न ह्यतो धर्माचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥ १५॥

पिताजी की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करने से बढ़कर संसार में कोई धर्माचरण है ही नहीं।

अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम्।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश॥ १६॥

पूज्य पिताजी के न कहने पर भी मैं आपके ही आदेश से चौदह वर्ष तक निर्जन वन में वास करूँगा।

न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणान्।
यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती॥ १७॥

हे सती! कैकेयि! मेरे लिए आप पिताजी से भी अधिक पूज्य हैं, परन्तु आप मेरे स्वभाव (माता-पिता की आज्ञा पालन) को नहीं जान पाईं। यदि जानतीं तो ऐसी तुच्छ बात पिताजी से न कहतीं।

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम्।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम्॥ १८॥

अच्छा जो हुआ सो हुआ। अब मेरे दण्डक वन जाने में इतनी ही देर है कि मैं माता कौसल्या से आज्ञा ले लूँ और सीताजी को समझा दूँ।

भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः॥ १९॥

आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे भरत ठीक प्रकार से राज्य का पालन करें और पिताजी की सेवा शुश्रूषा करें, क्योंकि पुत्र के लिए यही सनातन धर्म है।

स रामस्य वचः श्रुत्वा भृशं दुःखहतः पिता।
शोकादशक्नुवन्बाष्पं प्ररुरोद महास्वनम्॥ २०॥

अत्यधिक दुःख से आहत महाराज दशरथ श्रीराम के इन वचनों को सुनकर शोक के कारण कुछ बोल तो न सके, परन्तु वे फूट-फूट कर रोने लगे।

वन्दित्वा चरणौ रामो विसंज्ञस्य पितुस्तदा।
कैकेय्याश्चाप्यनायार्या निष्पपात महाद्युतिः॥ २१॥

महातेजस्वी श्रीराम ने मूर्च्छित पिता के चरणों की वन्दना की, फिर अनार्या कैकेयी के चरण स्पर्श किये।

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम्।
निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्स्वं ददर्श सुहृज्जनम्॥ २२॥

पिताजी और कैकेयी की प्रदक्षिणा करके तथा अन्तःपुर से बाहर निकल कर श्रीराम ने अपने इष्ट-मित्रों को देखा।

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनु जगाम ह।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः[१] ॥ २३ ॥

श्रीराम के पीछे-पीछे सुमित्रा के आनन्द को बढ़ानेवाले, अत्यन्त क्रुद्ध तथा आँखों में आँसू भरे हुए लक्ष्मणजी भी चले।

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥ २४ ॥

राज्याभिषेक न होने के कारण सहज कान्तियुक्त, लोकप्रिय श्रीराम की मुख-द्युति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। जिस प्रकार चन्द्रक्षय= कृष्णपक्ष में चन्द्रमा का निरन्तर क्षीण होना शीतल-किरण चन्द्रमा के सौन्दर्य और लोकप्रियता को कम नहीं कर पाता इसी प्रकार राज्य-नाश होने पर भी श्रीराम की शोभा पूर्ववत् ही थी।

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ २५ ॥

यद्यपि श्रीराम अखिल पृथिवी का राज्य छोड़कर वन जा रहे थे तथापि जीवन-मुक्त महा-योगीश्वर की भाँति उनके मन में किसी को किसी प्रकार का विकार दिखाई नहीं दिया।

सर्वो ह्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य किञ्चिदाकारमानने[२] ॥ २६ ॥

श्रीराम के समीपस्थ लोगों ने भी जो सजधज कर अभिषेक में सम्मिलित होने के लिए आये थे, सत्यवादी श्रीराम के मुख पर कोई विकार नहीं देखा।

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ २७ ॥
धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।
प्रविवेशात्मवान्वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ २८ ॥

श्रीराम ने शुभ छत्र और अलंकृत चंवर हटवा दिया, फिर रथ को तथा अपने इष्ट-मित्रों, पुरवासियों और बाहर के लोगों को विदा कर पिता के दुःख को मन में धारण किये हुए और अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर आत्मविजयी राम इस अप्रिय घटना को सुनाने के लिए माता कौसल्या के महल में प्रविष्ट हुए।

➤ सप्तदशः सर्गः ➤ (१७)

कौसल्या का क्रन्दन—

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला ॥ १ ॥

नित्य व्रत-परायण कौसल्या उस समय रेशमी वस्त्र धारण किये हुए मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निहोत्र कर रही थीं।

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम्।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २ ॥

सदा माता को प्रसन्न करनेवाले पुत्र को चिरकाल पश्चात् आया देखकर माता कौसल्या प्रसन्न होकर उसकी ओर इस प्रकार दौड़ी जिस प्रकार घोड़ी अपने बछेरे को देखकर उसकी ओर दौड़ती है।

१. लक्ष्मणजी श्रीराम के साथ गये थे इसका उल्लेख १४।१७ में हो चुका है। श्रीराम अन्दर चले गये और लक्ष्मणजी शयनागार के बाहर खड़े होकर श्रीराम और कैकेयी के वार्तालाप को सुनते रहे। मूल में इस वार्तालाप के सुनने का उल्लेख नहीं है, परन्तु उक्त श्लोक से यह बात स्पष्ट है।

२. महर्षि वसिष्ठ ने श्रीराम की इस अवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया है—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकार-विभ्रमः ॥

—अज्ञात

राज्याभिषेक के लिए बुलाये जाने पर और वनगमन का आदेश दिये जाने पर—दोनों स्थितियों में मैंने श्रीराम के मुखमण्डल पर कोई विकार नहीं देखा।

स मातरमभिक्रान्तमुपसंगृह्य राघवः।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामुपाघ्रातश्च मूर्धनि॥ ३॥

श्रीराम ने समीप आई माता के चरण छुए। माता ने उसके दोनों हाथ पकड़ उसे हृदय से लगाया और उसका सिर सूँघा।

तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः।
कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः॥ ४॥

तदनन्तर कौसल्या पुत्र-स्नेहवश दुर्जेय अपने पुत्र से ये हितकारी वचन बोली—

वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्।
प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले॥ ५॥

हे पुत्र! तू धर्मशील, वृद्ध, महात्माओं और राजर्षियों की आयु और कीर्ति को प्राप्त कर तथा कुलोचित धर्म के पालन में सदा निरत रह।

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव।
अद्यैव हि त्वां धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥ ६॥

हे राम! तुम अब सत्यप्रतिज्ञ महाराज के दर्शन करो, क्योंकि वे धर्मात्मा आज तुम्हारा यौवराज्यपद पर अभिषेक करेंगे।

दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः।
मातरं राघवः किञ्चित् प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत्॥ ७॥

यह कहकर माता ने उसे भोजन करने के लिए कहा और बैठने के लिए आसन दिया। श्रीराम उस आसन का स्पर्शकर और हाथ जोड़कर बोले—

देवि नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम्।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च॥ ८॥

हे देवि! आपके लिए सीता और लक्ष्मण के लिए जो महान् भय उपस्थित हो गया है निश्चय ही आप उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानतीं।

गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे।
विष्टारासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः॥ ९॥

मैं तो अब दण्डक वन में जा रहा हूँ, अतः तब इस आसन से मेरा क्या प्रयोजन? अब तो मेरे लिए कुशासन पर बैठने का समय आ गया है।

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
स्वादूनि हित्वा भोज्यानि फलमूलकृताशनः[१]॥ १०॥

अब मैं स्वादु पदार्थों को छोड़कर कन्द, मूल एवं फलों से जीवन-निर्वाह करते हुए चौदह वर्ष तक घोर निर्जन वन में वास करूँगा।

भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति।
मां पुनर्दण्डकारण्ये विवासयति तापसम्॥ ११॥

महाराज दशरथ भाई भरत को युवराज पद दे रहे हैं और मुझे तापस वेष बनाकर वन में रहने की आज्ञा दी है।

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता॥ १२॥

श्रीराम के इन वचनों को सुनकर देवी कौसल्या कुल्हाड़े से काटी हुई वृक्ष की डाली की भाँति सहसा भूमि पर गिर पड़ी—मानो आकाश से कोई तारा गिर पड़ा हो।

तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव।
रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम्॥ १३॥

कटे कदली-स्तम्भ के समान भूमि पर पड़ी हुई, सुखों के योग्य चेतना-शून्य माता कौसल्या को राम ने झट उठाकर बैठाया।

सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता।
उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे॥ १४॥

जो कौसल्या सुख पाने योग्य थी उसने दुःखी हो लक्ष्मण को सुनाते हुए पास बैठे पुरुषसिंह श्रीराम से कहा—

यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः॥ १५॥

हे राम! यदि तू इस वियोग-जन्य शोक के लिए उत्पन्न ही न होता तो सन्तानहीन होने की ग्लानि ही

१. पश्चिमोत्तरीय संस्करण में यही पाठ है और यही पाठ उचित भी है।

मन में रहती। यह पुत्र-वियोग-जन्य दुःख तो न देखना पड़ता।

एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः।
अप्रजाऽस्मीति सन्तापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते॥ १६॥

क्योंकि वन्ध्या को केवल एक ही मानसिक दुःख होता है कि मैं निःसन्तान हूँ परन्तु पुत्र! उसे अन्य कोई सन्ताप तो नहीं होता।

अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम्।
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविकाम्॥ १७॥

हे राम! पूर्णिमा के चन्द्रमा की छटा के समान शोभायमान तेरे मुखड़े को न देखकर मैं अभागी किस प्रकार अपना दीन जीवन बिताऊँगी।

स्थिरं तु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते।
प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा॥ १८॥

मेरा यह हृदय बड़ा कठोर जान पड़ता है जो कि वर्षाकाल में महानदी के नये जल से छूते हुए किनारे के समान टूट-फूट नहीं जाता।

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं
न भिद्यते यद् भुवि नावदीर्यते।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते॥ १९॥

निश्चय ही मेरा हृदय लोहे का बना हुआ है जो ऐसे दुःख से युक्त होने पर भी फटता नहीं है। दुःख से सारा शरीर व्याप्त है तो भी यह कटकर भूमि पर नहीं गिरता। इससे यही निश्चय होता है कि असमय में किसी को मृत्यु भी उठाकर नहीं ले जाती।

➤ अष्टादशः सर्गः ➤ (१८)

लक्ष्मण का आक्रोश—

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम्।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः॥ १॥

इस प्रकार विलाप करती हुई राम-माता कौसल्या जी से दुःखी लक्ष्मण यह समयोचित वचन बोले—

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद्राघवो वनम्।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशंगतः॥ २॥

आर्ये! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि स्त्री के वशवर्ती महाराज के कहने से श्रीराम राजलक्ष्मी को छोड़कर वन चले जायें।

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम्।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद्वनवासाय राघवः॥ ३॥

मुझे श्रीराम का कोई ऐसा अपराध या दोष दिखाई नहीं देता जिससे उन्हें वनवास के लिए राष्ट्र से निकाला जाये।

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि दोषमुदाहरेत्॥ ४॥

मैं लोक में किसी मित्र या शत्रु को भी नहीं देखता जो पीठ पीछे भी उनका दोष बतला सके।

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम्।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत्पुत्रमकारणात्॥ ५॥

देवतुल्य, सरल स्वभाव, जितेन्द्रिय, शत्रुओं पर भी कृपा करनेवाले पुत्र को पाकर कौन धर्मात्मा पिता उसको अकारण छोड़ देगा?

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः।
पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्तमनुस्मरन्॥ ६॥

ऐसी बालबुद्धि रखनेवाले राजा के वनगमन रूपी आदेश को राजनीति-विशारद कौन पुत्र स्वीकार कर सकता है?

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम्॥ ७॥

(फिर लक्ष्मणजी श्रीराम को सम्बोधित करते हुए बोले) हे भाई! लोगों में इस समाचार के फैलने से पूर्व ही आप मेरे साथ मिलकर इस राज्य को अपने

अधीन कर लें।

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः॥ ८॥

हे राघव! जब मैं साक्षात् मृत्यु के समान धनुष हाथ में लेकर आपकी रक्षा करूँगा, फिर किसकी शक्ति है जो आपकी ओर आँख उठाकर भी देख सके?

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये॥ ९॥

हे पुरुषपुङ्गव! यदि कोई विरोध में खड़ा होगा तो मैं तीक्ष्ण बाणों से सारी अयोध्या को मनुष्यों से शून्य कर दूँगा।

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वाऽस्य हितमिच्छति।
सर्वानितान्वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते॥ १०॥

जो भरत के पक्षपाती अथवा हितैषी हैं मैं उन सभी को मार डालूँगा। मैं कोमल नहीं बनूँगा, क्योंकि सीधा-सरल व्यक्ति सदा ही दबाया जाता है।

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि नः पिता।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि॥ ११॥

यदि कैकेयी द्वारा उकसाये जाने पर हमारे दुष्ट पिता हमारे शत्रु बन जायें तो अवध्य होने पर भी निःसंकोच होकर उन्हें मार डालना चाहिए।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥ १२॥

यदि गुरु भी अभिमान में आकर कर्तव्या-कर्तव्य को भूल जाये और उल्टे मार्ग पर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना चाहिए।

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥ १३॥

(लक्ष्मणजी पुनः कौसल्याजी से बोले—) हे देवि! मैं सत्य की, धनुष की, अपने दान की तथा इष्ट=अग्निहोत्र की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं हर प्रकार से श्रीराम का अनुरागी हूँ।

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥ १४॥

हे देवि! श्रीराम जलती हुई अग्नि में अथवा वन में जहाँ भी प्रवेश करेंगे आप मुझे वहाँ पहले से ही विद्यमान देखेंगी।

हरामि वीर्याद्दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु॥ १५॥

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार मैं अपने पराक्रम से आपके सारे कष्टों को अभी नष्ट किये डालता हूँ, आप और श्रीराम देखते रहें।

एतत्तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः।
उवाच रामं कौसल्या रुदन्ती शोकलालसा॥ १६॥

महात्मा लक्ष्मण के इन वचनों को सुनकर शोकाकुल कौसल्या रोती हुई श्रीराम से बोली—

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते॥ १७॥

हे वत्स! अपने भाई लक्ष्मण की बात तूने सुन ली। अब जो तुझे उचित जान पड़े सो कर।

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्।
विहाय शोकसन्तप्तां गन्तुमर्हसि मामितः॥ १८॥

मेरी सपत्नी कैकेयी की अधर्मयुक्त बात सुनकर तुझे मुझ शोक-सन्तप्ता अपनी माता को छोड़कर यहाँ से जाना उचित नहीं।

धर्मज्ञ यदि धर्मिष्ठो धर्मं चरितुमिच्छसि।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम्॥ १९॥

हे धर्मज्ञ! यदि तू धर्मिष्ठ है और तुझे धर्माचरण ही करना है तो यहाँ रहकर मेरी शुश्रूषा कर, क्योंकि माता की सेवा से बढ़कर उत्तम और कौन-सा धर्म है?

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।
त्वां नाहमनुजानामि न गन्तव्यमितो वनम्॥ २०॥

जैसे तेरे लिए महाराज पूज्य हैं वैसे ही उनसे अधिक मैं पूज्या हूँ। मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं

देती, अतः तुम्हें वन में नहीं जाना चाहिए।

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम्॥ २१॥

तेरे वियोग में न तो मुझे सुख है और न जीने की अभिलाषा है। तेरे साथ रहकर मेरे लिए तिनके खाकर रहने में भी भलाई है।

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्रायमिहासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम्॥ २२॥

यदि तू मुझ शोक-सन्तप्ता को यहाँ छोड़कर वन में चला गया तो मैं अनशन करके बैठ जाऊँगी और अपने प्राण दे दूँगी।

एकोनविंशः सर्गः (१९)

राम का कौसल्या को समझाना—

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम्॥ १॥

इस प्रकार विलाप करती हुई दीन-दुःखी कौसल्या को देख धर्मात्मा श्रीराम उससे ये धर्मयुक्त वचन बोले—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥ २॥

हे माता! मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं पिताजी की आज्ञा का उल्लंघन कर सकूँ, अतः मैं तुझे प्रणाम कर, तुझे प्रसन्न कर और तेरी अनुमति ले वन जाना चाहता हूँ।

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत्।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम्॥ ३॥

माता से इस प्रकार कहने के पश्चात् वक्ताओं में श्रेष्ठ और धनुष-धारियों में लब्धकीर्ति श्रीराम लक्ष्मणजी से बोले—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥ ४॥

हे लक्ष्मण! मेरे प्रति तुम्हारा जो अत्यधिक स्नेह है उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे पराक्रम, बल और अजेय तेज को भी जानता हूँ।

मम मातुर्महद्दुःखमतुलं शुभलक्षण।
अभिप्रायमविज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च॥ ५॥

हे शुभलक्षण वीर! मेरी माता तो धर्म और आत्मसंयम का रहस्य न जानने के कारण महाशोक से कातर हो रही हैं (तू तो सब कुछ जानता है, फिर माताजी की हाँ-में-हाँ मिलाकर धर्म-विरुद्ध बात क्यों कहता है?)।

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम्॥ ६॥

लोक में धर्म ही परम पुरुषार्थ है। धर्म में ही सत्य प्रतिष्ठित है। पिताजी की आज्ञा भी धर्मानुमोदित होने के कारण माता की आज्ञा से उत्कृष्ट है, अतः पितृ-आज्ञा ही पालनीय है।

संश्रुत्य पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता॥ ७॥

हे वीर! धर्मरूपी फल की इच्छा रखनेवाले पुरुष को पिता, माता या ब्राह्मण की आज्ञा पालन की प्रतिज्ञा करके उससे पीछे नहीं हटना चाहिए।

सोऽहं न शक्ष्यामि पितुर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याऽहं प्रचोदितः॥ ८॥

इसलिए मैं पिताजी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। हे वीर! पिता के आदेश से ही कैकेयी ने यह बात मुझे कही हैं।

तदेनां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥ ९॥

अतः हे लक्ष्मण! क्षात्रधर्म का अनुगमन करनेवाली इस दुष्ट बुद्धि को तू छोड़ दे। धर्म का आश्रय

ले, उग्रता का नहीं। मेरी बुद्धि का अनुगमन कर।

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः॥ १०॥

श्रीराम स्नेहपूर्वक लक्ष्मण को इस प्रकार समझा कर, फिर हाथ जोड़ और सिर झुका कर कौसल्याजी से बोले—

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे॥ ११॥

हे देवि! अब मुझे वन जाने की आज्ञा दीजिए। आपको मेरे प्राणों की शपथ है। आप मेरे लिए दुःखी न हों और मेरे लिए स्वस्तिवाचन करें।

शोकः सन्धार्यतां मातर्हृदयेसाधु मा शुचः।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः॥ १२॥

हे माता! शोकातुर पिता को समझा-बुझाकर शान्त कर और तू स्वयं भी किसी प्रकार की चिन्ता मत कर। मैं पिताजी की आज्ञा पूर्ण कर वन से घर लौट आऊँगा।

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः॥ १३॥

आपको, मुझे, वैदेही को, लक्ष्मण और सुमित्रा को पिताजी की आज्ञा में रहना चाहिए, यही सनातन धर्म=शिष्टाचार है।

अम्ब संहृत्य सम्भारान्दुःखं हृदि निगृह्य च।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम्॥ १४॥

हे माता! अभिषेकार्थ एकत्र सामग्रियों को एक ओर हटा दे। अपने दुःख को हृदय में धारण कर और मेरे वनवास के औचित्य को समझा कर मुझे वन जाने की अनुमति प्रदान कर।

➤ विंशः सर्गः ➤ (२०)

दैव और पुरुषार्थ पर राम-लक्ष्मण संवाद—

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम्।
श्वसन्तमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम्॥ १॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम्।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान्॥ २॥

श्रीराम के अभिषेक में विघ्न उत्पन्न होने से दुःखी, अत्यधिक प्रेम के कारण राम के वियोग को सहने में असमर्थ, कैकेयी पर क्रुद्ध हो हाथी के समान श्वास लेते हुए, रोष से चढ़ी हुई आँखों-वाले अपने प्रिय भाई और हितैषी मित्र लक्ष्मण को अपने पास बुलाकर आत्मवान् राम धैर्य से चित्त को धारण किये हुए उससे बोले—

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम्।
अवमानं निरस्येमं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम्॥ ३॥

हे भाई! अब तुम क्रोध और शोक को त्याग कर धैर्य धारण करो और मेरे वनगमनरूपी अपमान को भूलकर प्रसन्न हो जाओ।

कृतान्तस्त्वेव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने॥ ४॥
कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम पीडने।
यदि भावो न दैवोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥ ५॥

हे लक्ष्मण! मेरे वनवास और पिता द्वारा प्रदत्त राज्य के छिन जाने में दैव=भाग्य को ही कारण समझो। इसमें किसी का कुछ बस नहीं। यदि दैव मेरे प्रतिकूल न होता तो मुझे पीड़ा देने के लिए कैकेयी की बुद्धि कभी ऐसी नहीं होती।

कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य न ग्रहणं किञ्चित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते॥ ६॥

हे लक्ष्मण! दैव से कौन युद्ध कर सकता है, क्योंकि दैव का प्रत्यक्ष कर्मों के फल-भोग के रूप में ही होता है और किसी रूप में नहीं।

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यच्च किञ्चत्तथा भूतं ननु दैवस्य कर्म तत्[१] ॥ ७ ॥

देखो! सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-हानि और जीवन-मरण तथा अन्य बातें जो इन्हीं के समान हैं—ये सब दैव=भाग्य के अधीन हैं।

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥ ८ ॥

कठोर तप करनेवाले ऋषि भी दैव के द्वारा प्रेरित होकर कठोर तपस्या से अर्जित नियमों का त्याग कर काम-क्रोधादि के कारण ऋषिपद से भ्रष्ट हो जाते हैं।

असङ्कल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते।
निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत्॥ ९ ॥

जिस कार्य को करने का कभी विचार भी न किया हो और वह अकस्मात् हो जाये तथा प्रयत्न द्वारा आरम्भ किया हुआ कार्य अनायास रुक जाये—इसी को दैव कहते हैं।

मा च लक्ष्मण सन्तापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण! मुझे राज्याधिकार न मिलने के लिए तुम सन्ताप मत करो, क्योंकि विवेचन करने से राज्य और वनवास में कुछ भी अन्तर नहीं, अपितु मेरे लिए तो वनवास ही महान् कल्याणकारी है।

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽग्रजमब्रवीत्।
अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम्॥ ११ ॥

श्रीराम के ऐसा कहने पर लक्ष्मणजी अपने भाई राम से बोले—धर्मदोष के प्रसङ्ग से आपको यह बड़ा भ्रम उत्पन्न हो गया है।

यथा दैवमशौण्डीरं शौण्डीर क्षत्रियर्षभ।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि॥ १२ ॥

हे शौण्डीर=दैव की प्रतिकूलता को दूर करने में समर्थ क्षत्रियश्रेष्ठ! आप सामर्थ्यहीन, अशक्त एवं तुच्छ दैव की प्रशंसा क्यों कर रहे हैं?

विक्लबो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥ १३ ॥

जो पौरुषहीन और कायर पुरुष है वही भाग्य का अनुवर्तन करता है, वीर और धीर पुरुष दैव का अनुसरण नहीं करते।

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुष सोऽवसीदति॥ १४ ॥

जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से दैव को दबा सकता है, उसका न तो दैव कुछ बिगाड़ सकता है और न वह कभी दुःखी होता है।

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च।
दैव मानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति॥ १५ ॥

आज लोग भाग्य और पुरुषार्थ के पराक्रम को देखें। दैव और पुरुषार्थ में कौन बलवान् है, आज इसका निर्णय हो जायेगा।

अद्य मत्पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः।
यद्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम्॥ १६ ॥

जिन लोगों ने दैव के कारण आपके राज्याभिषेक को नष्ट होते देखा है वे आज मेरे पुरुषार्थ द्वारा भाग्य को भी नष्ट होते हुए देखेंगे।

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥ १७ ॥

मेरी ये दोनों भुजाएँ शोभा के लिए नहीं हैं, न मेरा यह धनुष शृङ्गार करने के लिए कोई आभूषण ही है। मेरी तलवार केवल कमर में लटकाने के लिए नहीं है और ये बाण खम्भे की भाँति सहारा लेने के लिए नहीं है। ये सब तो शत्रुओं का मान मर्दन करने के लिए हैं।

---

१. गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक अन्य प्रसंग में इसका अनुवाद यूँ किया है—

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने।
कथं पुरुषमानी स्यात्पुरुषाणां मयि स्थिते॥ १८॥

जब मैं गोह की खाल के दस्ताने पहनकर धनुष हाथ में लूँगा तब मैं देखूँगा कि वह कौन-सा अभिमानी वीर है जो मेरा सामना करता है।

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां—
तवासुहृत्प्राणयशः सुहृज्जनैः।
यथा तवेयं वसुधा वशे भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः॥ १९॥

बताइए आपका कौन-सा शत्रु आज मेरे द्वारा मारा जाकर अपने प्राण, यश और मित्रों से रहित हो जाए। जिस प्रकार इस पृथिवी का राज्य आपके हस्तगत हो जाए मुझे वैसी ही आज्ञा दीजिए। मैं आपका दास हूँ।

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृत्
स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथे॥ २०॥

तब रघुकुल की कीर्ति को बढ़ानेवाले राम लक्ष्मण के आँसू पोंछकर एवं उन्हें बार-बार सान्त्वना देकर बोले—हे सौम्य! मैं माता-पिता की आज्ञा के अधीन हूँ, यही सन्मार्ग है।

➤ एकविंशः सर्गः ➤ (२१)

माता द्वारा वन-गमन की अनुमति—

तं समीक्ष्य त्ववहितं पितुर्निर्देशपालने।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत्॥ १॥

जब कौसल्या ने देखा कि धर्मिष्ठ राम पिता की आज्ञा-पालन में दृढ़ हैं तो वे रुँधे हुए कण्ठ से बोलीं—

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः।
मयि जातो दशरथात्कथमुञ्छेन वर्तयेत्॥ २॥

जिसने कभी दुःख नहीं सहा वह धर्मात्मा, सबसे प्रिय बोलनेवाला, दशरथ द्वारा मेरे उदर से उत्पन्न राम वन में उञ्छवृत्ति[1] से जीवन निर्वाह कैसे करेगा?

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते।
कथं स भोक्ष्यते नाथो वने मूलफलान्ययम्॥ ३॥

जिसके नौकर-चाकर भी मिष्टान्न और उत्तम भोजन खाते हैं वह राम वन में कन्द-मूल फल कैसे खायेगा?

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि॥ ४॥

निश्चय ही भाग्य ही लोक में बलवान् है तभी तो लोक में सबका प्रिय होकर भी तुझे वन में जाना पड़ रहा है।

त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान्।
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्हिमात्यये॥ ५॥

हे पुत्र! तुझसे विहीन मुझे यह वनगमन रूप महान् शोकाग्नि उसी प्रकार जलाकर भस्म कर देगी जैसे हेमन्त ऋतु के बीतने पर गर्मी में प्रचण्ड किरणवाला सूर्य घास को जला देता है।

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति।
अहं त्वानुऽगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि॥ ६॥

वत्स! क्या गाय अपने बछड़े के पीछे नहीं जाती? जैसे जहाँ बछड़ा जाता है वहीं गाय जाती है उसी प्रकार मैं भी तेरे पीछे-पीछे जहाँ-कहीं तू जायेगा, वहीं चलूँगी।

तथा निगदितं मात्रा तद्वाक्यं पुरुषर्षभः।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम्॥ ७॥

---

१. खेत कट जाने के पश्चात् जो दाने पड़े रह जाते हैं, उन्हें चुन-चुन कर उनसे जीवन निर्वाह करना उञ्छवृत्ति कहलाती है।

माता द्वारा कहे गये इन वचनों को सुनकर पुरुष श्रेष्ठ राम अत्यन्त दुःखित अपनी माता से बोले—

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति॥ ८॥

हे माता! कैकेयी ने महाराज को धोखा दिया है, मैं वन में जा रहा हूँ और आप भी उन्हें त्याग देंगी तो वे निश्चय ही जीवित न बचेंगे।

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसाऽपि विगर्हितः॥ ९॥

पति का परित्याग करना स्त्री के लिए सबसे बड़ी क्रूरता है, अतः ऐसे निन्द्य कर्म की तो आपको मन में भी कल्पना नहीं करनी चाहिए।

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः।
शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः॥ १०॥

जब तक मेरे पिता महाराज दशरथ जीवित हैं तब तक आप उनकी सेवा करें, यही परम्परागत सनातन धर्म है।

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः॥ ११॥

हे देवि! मुझे और आपको पिताजी की आज्ञा अवश्य माननी चाहिए, क्योंकि वे आपके पति हैं, गुरु हैं, श्रेष्ठ हैं और सबके स्वामी एवं पूज्य हैं।

जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः॥ १२॥

जब तक स्त्री जीये, उसे उचित है कि वह अपने पति को ही अपना देवता और स्वामी समझे। इस समय आपके और मेरे स्वामी महाराज ही हैं।

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा।
भर्तारं नानुवर्तेत सा तु पापगतिर्भवेत्॥ १३॥

जो श्रेष्ठ स्त्री व्रतोपवास तो करती है, परन्तु अपने पति की सेवा नहीं करती वह पाप की भागिनी होती है।

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्।
एष धर्मः पुरादृष्टो लोके वेदे श्रुतः स्मृतः॥ १४॥

पति की सेवा से नारी उत्तम स्वर्ग=सुख विशेष को प्राप्त होती है। स्त्रियों के लिए पति-सेवा ही प्राचीन लोकाचार-सिद्ध, वेद[१] और स्मृत्यनुकल[२] धर्म है।

एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत्॥ १५॥

श्रीराम के ऐसा कहने पर आँखों में आँसू भर, पुत्र-शोक से पीड़ित कौसल्या राम से कहने लगी—

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक।
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः॥ १६॥

हे प्रिय पुत्र राम! जब तूने वन में जाने का दृढ़ निश्चय ही कर लिया है तो मुझमें शक्ति नहीं कि तुझे रोक सकूँ। हे वीर! सचमुच काल बहुत बलवान् है।

गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु तदा विभो।
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा॥ १७॥

पुत्र! निश्चिन्त होकर जाओ! हे तेजस्वी! तेरा सदा कल्याण हो। तेरे वन से लौट आने पर मैं दुःख-रहित हो जाऊँगी।

---

१. वेद में कहा है—

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥

—अथर्व० १४।१।४२

मन की प्रसन्नता, सन्तान, उत्तम सौभाग्य, धन और सुख को चाहनेवाली हे स्त्री! तू पति की सेवा-शुश्रूषा द्वारा पति के धर्म-कार्यों में अनुकूल वर्तनेवाली होकर अमृताय=मोक्ष-सुख के साथ अपने को सम्बन्धित कर।

२. मनु महाराज ने लिखा है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतः नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

—मनु० ५।१५५

स्त्रियों के लिए पृथक् न कोई यज्ञ है, न व्रत और न उपवास। केवल पति की सेवा से ही वह घर में पूजित होती है।

यं पालयसी धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥ १८॥

हे राघवशार्दूल! जिस धर्म का तुम नियमपूर्वक पालन कर रहे हो वही धर्म तुम्हारी सब ओर से रक्षा[1] करे।

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम्।
क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत्पुत्रक ते भयम्॥ १९॥

हे पुत्र! राक्षस, पिशाच, भयंकर एवं क्रूर कर्म करनेवाले और मांसभक्षी जीवों से तुम्हें कोई भय न हो।

आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः॥ २०॥

तेरा मार्ग मङ्गल रूप हो और तेरा पराक्रम सिद्ध हो। आकाश और पृथिवी के पदार्थों से तेरी बार-बार रक्षा हो।

इतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वत्ययनं यथाविधि।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निपीड्य सस्वजे॥ २१॥

इस प्रकार आँखों से आँसू भरे हुए कौसल्या ने यथाविधि स्वस्तिवाचन को समाप्त कर राम की बार-बार प्रदक्षिणा की तथा उसे पकड़कर हृदय से लगाया।

तथा तु देव्या स कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः।
जगाम सीतानिलयं महायशाः।
स राघवः प्रज्वलितः स्वया श्रिया॥ २२॥

जब देवी कौसल्या राम की प्रदक्षिणा कर चुकीं तब श्रीराम ने भी बार-बार उनके चरण छुए, फिर अपनी कान्ति से दीप्त महायशस्वी राम सीताजी के घर गये।

➤ द्वाविंशः सर्गः ➤ (२२)

श्रीराम का सीता को हितोपदेश—

वैदेही चापि तत्सर्वं न शुश्राव तपस्विनी।
तदेव हृदि तस्याश्च राजपुत्रं प्रतीक्षते॥ १॥

तपस्विनी सीताजी ने श्रीराम ने वनगमन आदि का वृत्तान्त अभी नहीं सुना था। उसके हृदय में तो राज्याभिषेक की ही बात थी। वह राम के आने की प्रतीक्षा कर रही थी।

प्रविवेशाथ रामस्तु स्वं वेश्म सुविभूषितम्।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः॥ २॥

इतने ही में लज्जा से मुख नीचा किये हुए श्रीराम ने प्रसन्न जनों से परिपूर्ण एवं सुभूषित अपने गृह में प्रवेश किया।

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम्।
अपश्यच्छोकसन्तप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम्॥ ३॥

सीताजी शोक एवं चिन्ता से व्याकुल श्रीराम को देख काँपती हुई आसन से उठ खड़ी हुईं।

तां दृष्ट्वा सा हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम्।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः॥ ४॥

धर्मात्मा श्रीराम सीता को देख अपने मानसिक शोक के वेग को छिपा न सके और यह प्रकट हो

---

१. धर्म-पालन मनुष्य की रक्षा करता है। महर्षि मनु ने कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

—मनु० ८।१५

मारा हुआ धर्म मनुष्य को मार देता है और रक्षा किया हुआ धर्म मनुष्य की रक्षा करता है, अतः धर्म का हनन=लोप नहीं करना चाहिए। ऐसा न हो कि मारा हुआ धर्म ही मार दे।

गया।

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम्।
आह दुःखाभिसन्तप्ता किमिदानीमिदं प्रभो॥ ५॥

श्रीराम के स्वेद से युक्त, शोकान्वित एवं कान्तिहीन मुख को देख स्वयं दुःख-संतप्त होकर सीताजी ने राम से पूछा—प्रभो! यह क्या हुआ?

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम्॥ ६॥

सीताजी के ऐसे दुःख-पूर्ण वचन सुनकर राम बोले—हे सीते! पूज्य पिताजी ने मुझे वन जाने की आज्ञा दी है।

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम्॥ ७॥

मुझे चौदह वर्ष तक दण्डक वन में रहना पड़ेगा। निर्जन वन को प्रस्थान करने से पूर्व मैं तुम्हें मिलने के लिए आया हूँ।

भरतस्य समीपे तु नाहं कथ्यः कदाचन।
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्॥ ८॥

देखना! तुम भरत के समक्ष मेरी प्रशंसा कभी मत करना, क्योंकि ऐश्वर्य-सम्पन्न पुरुष दूसरे की स्तुति सहन नहीं कर सकते।

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम्।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे॥ ९॥

हे पापरहित कल्याणि! मेरे मुनियों द्वारा सेवित वन को चले जाने पर तुझे व्रत-उपवास[१] आदि पूर्वक रहना चाहिए, अर्थात् शृङ्गार आदि नहीं करना चाहिए।

काल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम नरेश्वरः॥ १०॥

प्रातःकाल उठकर यथाविधि सन्ध्या आदि कृत्यों से निवृत्त होकर मेरे पिता महाराज दशरथ को नित्य नमस्कार करना।

माता च मम कौसल्या वृद्धा सन्तापकर्शिता।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति॥ ११॥

मेरी माता कौसल्या एक तो वृद्धा हैं, दूसरे मेरे वनगमन से दुःखी हैं, अतः उनका सम्मान करना तू अपना धर्म समझना।

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः॥ १२॥

मेरी जो अन्य माताएँ हैं, उनकी भी तुम नित्य वन्दना करना। मेरी वे माताएँ भी स्नेह, सौहार्द एवं लालन-पालन के कारण माता कौसल्या के समान ही हैं।

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥ १३॥

भाई भरत और शत्रुघ्न को जो मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं, तुम अपने भाई और पुत्र की तरह देखना।

विप्रियं न च कर्तव्यं भरतस्य कदाचन।
स राजा प्रभुश्चैव देशस्य च कुलस्य च॥ १४॥

तुम कभी भरत के विरुद्ध आचरण मत करना, क्योंकि वे देश के राजा और कुल के स्वामी हैं।

आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः।
राजानः सम्प्रसीदन्ति कुप्यन्ति विपर्यये॥ १५॥

देखो! शील से, अर्थात् अकुटिल भाव से आराधना और प्रयत्नपूर्वक सेवा किये जाने पर राजा लोग प्रसन्न होते हैं और इसके विपरीत आचरण करने से कुपित हो जाते हैं।

---

१. यह उपदेश धर्मशास्त्र के अनुकूल है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

क्रीडा शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका॥

—या० स्मृ० १।८४

जिसका पति परदेश गया हो उसे क्रीड़ा, शृङ्गार, नाटकादि देखना, दूसरों के साथ हँसी-मजाक करना और दूसरों के घर जाना छोड़ देना चाहिए।

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्।
तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम॥ १६॥

हे प्राणप्रिय! मैं तो वन जाता हूँ। हे भामिनि! तुम्हें यहीं अयोध्या में रहना होगा। मेरी तुम्हारे लिए यही शिक्षा है कि तुम ऐसा आचरण करना जिससे तुमसे कोई बुरा न माने।

≺ त्रयोविंशः सर्गः ≻ (२३)

सीताजी की वन-गमन के लिए याचना—

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी।
प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥

राम के ऐसा कहने पर प्राणप्रिया, प्रियवादिनी सीता ने स्नेहवश क्रुद्ध होकर पति से कहा—

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम्।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज॥ २॥

हे श्रेष्ठ राजकुमार राम! आप यह कैसी हल्की बात कह रहे हैं, इसे सुनकर तो मुझे हँसी आती है।

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥ ३॥
भर्तुर्भाग्यं तु भार्यैका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥ ४॥

हे आर्यपुत्र! पिता, माता, भ्राता, पुत्र तथा पुत्र-वधू—ये सब अपने-अपने पुण्यों का भोग करते हुए अपने-अपने कृतकर्मानुकूल सुख-दुःख प्राप्त करते हैं, परन्तु हे नरकेसरी! पति के भाग्य को एक स्त्री (अर्द्धाङ्गिनी होने के कारण) ही भोगती है, इसलिए आपके वन जाने के आदेश के साथ मुझे भी वन जाने की आज्ञा मिल गई।

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥ ५॥

स्त्रियों के साथ लोक-परलोक में न पिता, न पुत्र, न भाई-बन्धु, न माता और न सखि-सहेलियाँ ही साथी होती हैं। स्त्रियों के लिए तो एक पति ही सर्वदा उनका सर्वस्व होता है।

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥ ६॥

हे राम! यदि आप आज ही दुर्गम वन को प्रस्थान करेंगे तो मैं कुश-कण्टकों को रौंदती हुई तुम्हारे आगे-आगे चलूँगी।

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु॥ ७॥

हे वीर! नित्य आपकी सेवा करती हुई तथा नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई मैं मधु तथा सौरभ-युक्त वनों में आपके साथ विहार करूँगी।

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती सह त्वया॥ ८॥

मैं वन में उत्पन्न फल-मूलों को खाकर ही अपना निर्वाह कर लूँगी। आपके साथ वन में रहते हुए मैं आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं दूँगी।

इच्छामि सरितः शैलान्पल्वलानि वनानि च।
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता॥ ९॥

मैं आप जैसे बुद्धिमान् प्राणनाथ से रक्षित होकर झीलों, पर्वतों, तालाबों और वनों को सर्वत्र देखना चाहती हूँ।

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः।
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण सङ्गता॥ १०॥

मैं चाहती हूँ कि तुम्हारे जैसे वीर पति के साथ मैं हंस और सारस पक्षियों से सेवित तथा सुन्दर खिली हुई कमलिनियों से युक्त सरोवरों को सुखपूर्वक देखूँ।

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यं यतव्रता।
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी॥ ११॥

हे विशालाक्ष! मैं यम-नियमों आदि व्रतों का पालन करती हुई उनमें स्नान करूँगी और आनन्द-पूर्वक जलक्रीड़ा भी करूँगी।

एवं वर्षसहस्राणां शतं वाऽहं त्वया सह।
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि न हि मे मतः॥ १२॥

इस प्रकार आपके साथ चाहे सैकड़ों-सहस्रों वर्ष बीत जाये तो भी मुझे न जान पड़ेंगे। आपके साथ रहने के सुख के समक्ष मैं स्वर्ग-सुख को भी कुछ नहीं समझती।

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव।
त्वया मम नरव्याघ्र नाहं तमपि रोचये॥ १३॥

हे नरकेसरी राम! आपके बिना यदि मुझे स्वर्ग में भी रहना पड़े तो मुझे पसन्द नहीं है।

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैर्युतम्।
वने निवत्स्यामि तथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य संयता॥ १४॥

मैं आपके साथ उस दुर्गम वन में चलूँगी जो वानर, हाथी और अन्य वन-पशुओं से भरे हुए हैं। संयमपूर्वक आपके चरणों की सेवा करती हुई मैं वहाँ उसी प्रकार सुखपूर्वक वास करूँगी जिस प्रकार अपने पिता के घर में रहती थी।

◀ चतुर्विंशः सर्गः ▶ (२४)

श्रीराम द्वारा वन के कष्टों का वर्णन—

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन्॥ १॥

धर्मवत्सल श्रीराम वन के कष्टों का स्मरण कर धर्मज्ञा सीता के बहुत कहने पर भी उसे अपने साथ वन ले जाने को उद्यत नहीं हुए।

सान्त्वयित्वा पुनस्तां तु बाष्पपर्याकुलेक्षणाम्।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह॥ २॥

आँखों में आँसू भरी हुई सीताजी को सान्त्वना देते हुए धर्मात्मा श्रीराम ने उसे वन-गमन से रोकने के लिए कहा—

सीते महाकुलीनाऽसि धर्मे च निरता सदा।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम्॥ ३॥

हे सीते! तुम उच्चकुल में उत्पन्न और सदा धर्मपालन में लगी रहती हो, अतः तुम यहीं रहकर धर्म का आचरण करो जिससे मेरे मन को शान्ति प्राप्त हो।

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाऽबले।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान्निबोध मे॥ ४॥

हे अबले सीते! जो मैं कहता हूँ तुम वैसा ही करो। वनवास में अनेक कष्ट होते हैं। मैं उन्हें बतलाता हूँ। तुम ध्यान से सुनो।

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम्।
सिंहानां निनाददुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥ ५॥

पहाड़ों की गुफाओं में रहनेवाले सिंहों की दहाड़ तथा पर्वतीय झरनों के गिरने से होनेवाले भयंकर शब्द सुनने में बड़े दुःखप्रद होते हैं। इसी कारण वन बहुत दुःखदायी है।

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये महामृगाः।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम्॥ ६॥

हे सीते! निर्जन वन में निःशंक होकर क्रीड़ा करनेवाले सिंहादि वन्य जन्तु, मनुष्य को देखते ही उन पर टूट पड़ते हैं, इसलिए वन बहुत दुःखदायी है।

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यश्च दुस्तराः।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्॥ ७॥

मगरों से युक्त अत्यन्त कीचड़वाली नदियाँ जिन्हें मतवाले हाथी भी पार नहीं कर सकते—जहाँ पर विद्यमान हैं ऐसे वन बहुत दुःखदायी हैं।

लता कण्टकसङ्कीर्णाः कृकवाकूपनादिताः।
निरपाश्च सुदुर्गाश्च मार्गा दुःखमतो वनम्॥ ८॥

प्रायः वनों के मार्ग पैरों में लिपट जानेवाली बेलों और पाँव में चुभ जानेवाले काँटों से परिपूर्ण होते हैं। वहाँ वनमुर्ग बोला करते हैं। मार्ग में जल नहीं मिलता और मार्ग भयंकर होते हैं, अतः वन बहुत दुःखदायी है।

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयं भग्नासु भूतले।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद्दुःखतरं वनम्॥ ९॥

वनों में श्रम से थके हुए व्यक्ति को रात्रि में भूमि पर अपने आप गिरे हुए पत्तों की शय्या पर सोना पड़ता है, इसलिए वन बहुत दुःखदायी है।

अहोरात्रं च सन्तोषः कर्तव्यो नियतात्मना।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम्॥ १०॥

हे सीते! वन में सायं-प्रातः वृक्षों से स्वयं गिरे हुए फल खाकर ही सन्तोष करना पड़ता है, अतः वन कष्टदायक हैं।

उपवासश्च कर्तव्यो यथाप्रायेण मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारिणा॥ ११॥

हे मैथिलि! वन में यथाशक्ति उपवास भी करना पड़ता है और वस्त्रों के स्थान पर वृक्ष की छाल पहननी पड़ती है।

अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चात्र नित्यशः।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम्॥ १२॥

वनों में भयंकर आँधियाँ चलती हैं तथा घोर अन्धकार रहता है, भूख बहुत लगती है तथा अनेक प्रकार के भय होते हैं, अतः वन बहुत कष्टदायक है।

सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि।
चरन्ति पृथिवीं दर्पात्ततो दुःखतरं वनम्॥ १३॥

हे भामिनि! वन में विशालकाय अजगर बड़े दर्प के साथ घूमा करते हैं, इसलिए वन दुःखदायी है।

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह।
बाधन्ते नित्यमबले तस्माद् दुःखतरं वनम्॥ १४॥

हे अबले! वहाँ कीट-पतङ्ग, बिच्छू, पिस्सू तथा मच्छर नित्य सताया करते हैं, अतः वन बहुत क्लेशकारक है।

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः।
न भेतव्यं च भेतव्ये नित्यं दुःखमतो वनम्॥ १५॥

हे सीते! वन में क्रोध और लोभ को त्यागकर तप में मन लगाना पड़ता है और डरने योग्य वस्तुओं से भी निर्भय रहना होता है, इसलिए वन दुःखप्रद है।

तदलं ते वनं गत्वा क्षमं न हि वनं तव।
विमृशन्निह पश्यामि बहुदोषकरं वनम्॥ १६॥

तुम वन में जाने का विचार छोड़ दो, क्योंकि वन तुम्हारे रहने योग्य स्थान नहीं है। मैं जब विचार करता हूँ तब मुझे वन में कष्ट-ही-कष्ट दिखाई पड़ते हैं।

◀ पञ्चविंशः सर्गः ▶ (२५)

श्रीराम द्वारा सीता को वन-गमन की अनुमति—

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

राम के इन वचनों को सुन दुःखी सीता ने आँसू बहाते हुए मन्द-स्वर से कहना आरम्भ किया—

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति।
गुणानित्येव तान्वीक्षे तव स्नेहपुरस्कृताम्॥ २॥

हे राम! वनवास में होनेवाले जिन दोषों का आपने वर्णन किया है तुम्हारे स्नेह के सामने वे सब गुण दिखलाई पड़ते हैं।

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः॥ ३॥

हे वीर! वनवास के दुःखों को मैं अच्छी प्रकार जानती हूँ, परन्तु ये दुःख उन्हीं को होते हैं जो अजितेन्द्रिय होते हैं, अन्यों को नहीं।

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं वै बहुविधं प्रभो।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया॥ ४॥

हे प्रभो! मैंने पहले भी कई बार वनक्रीड़ा के लिए प्रार्थना की थी। अब वह अवसर स्वयं आ गया, अतः आप मुझे अपने साथ वन ले चलें।

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम्॥ ५॥

हे काकुत्स्थ राम! आपमें पूर्ण शक्ति रखने-वाली, पतिव्रता, दीन, सुख-दुःख में सम रहने-वाली और आपके सुख-दुःख में समान भाग लेनेवाली मुझको आप अपने साथ वन में ले चलें।

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात्॥ ६॥

यदि मुझ दुखिया को तुम अपने साथ नहीं ले जाओगे तो मैं विष खाकर, अग्नि में जलकर अथवा पानी में डूब कर अपने प्राण दे दूँगी।

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति।
नानुमेने महाबाहुः काकुत्स्थो बह्वसान्त्वयत्॥ ७॥

इस प्रकार श्रीराम के साथ वन में जाने के लिए सीता ने अनेक प्रकार से प्रार्थना की, परन्तु राम ने उन्हें वन जाने की अनुमति नहीं दी और वन न जाने के लिए अनेक प्रकार से समझाया।

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिलि जनकात्मजा।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम्॥ ८॥

श्रीराम के द्वारा समझाये जाने पर सीता प्रणय और रोष से राम का उपहास करते हुए बोली—

किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
रामं जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥ ९॥

हे राम! यदि मेरे पिता मिथिलेश यह जानते कि तुम आकार मात्र के पुरुष हो, व्यवहार में स्त्री हो तो वे कभी मेरा विवाह तुम्हारे साथ कर तुम्हें अपना दामाद न बनाते।

अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद्यद्धि वक्ष्यति।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे॥ १०॥

अहो! खेद है। लोग अज्ञानवश कहते हैं कि राम सूर्य के समान तेजस्वी हैं, परन्तु वास्तव में इनमें तेज है ही नहीं।

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते।
यत्परित्यक्तुकामास्त्वं मामनन्यपरायणाम्॥ ११॥

हे राम! आप किसलिए दुःखी हैं अथवा आपको किस बात का भय है जो आप अपनी अनन्य भक्ता धर्मपत्नी को यहाँ छोड़कर वन जाना चाहते हैं?

तपो वा यदि वाऽरण्यं स्वर्गो वा स्यात्त्वया सह।
न च मे भविता तत्र कश्चित्पथि परिश्रमः॥ १२॥

चाहे तुम तप करो या वनवास करो अथवा स्वर्गवास—मुझे तो तुम्हारे साथ रहना ही उचित है। मुझे मार्ग चलने में कुछ भी परिश्रम नहीं होगा।

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया॥ १३॥

मार्ग में आपके साथ चलते समय कुश, काश, सरकण्डे आदि तथा काँटेदार वृक्ष मेरे लिए रूई तथा कोमल मृगचर्म के स्पर्श की भाँति जान पड़ेंगे।

महावातसमुद्भूतं यन्मामपकरिष्यति।
रजो रमण तन्मन्ये परार्घ्यमिव चन्दनम्॥ १४॥

हे राम! आँधी से उड़कर जो धूल मेरे शरीर पर आ पड़ेगी उसे मैं चन्दन के समान समझूँगी।

शाद्वलेषु यथा शिश्ये वनान्ते वनगोचर।
कुथास्तरणतल्पेषु किं स्यात्सुखतरं ततः॥ १५॥

हे वनगोचर! जब मैं वन में हरी-हरी घास के बिछौने पर सोऊँगी तब मुझे पलंग पर बिछे कोमल गलीचे पर सोने से भी अधिक आनन्द प्राप्त होगा।

पत्रं मूलं फलं यत्त्वमल्पं वा यदि वा बहु।
दास्यसि स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम्॥ १६॥

जो भी थोड़े या अधिक पत्र, मूल, फल आप स्वयं मुझे लाकर दिया करेंगे। वे मेरे लिए अमृतरस के समान होंगे।

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः।
आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च॥ १७॥

वन में ऋतु-फलों और ऋतु-पुष्पों का उपभोग करती हुई मैं माता-पिता तथा राज-भवन का स्मरण नहीं करूँगी।

न च तत्र गतः किञ्चिद्द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा॥ १८॥

मेरे कारण वन में न तो आपको कोई क्लेश होगा, न कोई शोक होगा और मैं आपके लिए भारभूत भी नहीं बनूँगी।

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥ १९॥

आपके साथ रहने में मुझे सर्वत्र स्वर्ग के समान सुख है और आपके विना सर्वत्र नरक है। यही सब कुछ सोचकर आप प्रसन्नता-पूर्वक मुझे अपने साथ वन में ले चलें।

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसि।
विषमद्यैव पास्यामि मा विशं द्विषतां वशम्॥ २०॥

यदि आप न डरनेवाली मुझे वन में अपने साथ ने ले जायेंगे तो मैं आपके सामने ही अपने प्राण दे दूँगी, किन्तु जिन दुष्टों ने आपके राज्याभिषेक में विघ्न डाला है उनके वश में नहीं रहूँगी।

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम्।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम्॥ २१॥

हे नाथ! आपके वन जाने के पश्चात् भी तो दुःख से मुझे मरना ही है, अतः आप द्वारा परित्यक्त होकर इसी समय मर जाना अच्छा है।

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दशवर्षाणि त्रिणि चैकं च दुःखिता॥ २२॥

मैं आपके वियोग के शोक को एक क्षण भी नहीं सह सकती तब चौदह वर्षों के वियोग को कैसे सह सकती हूँ?

इति सा शोकसन्तप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम्॥ २३॥

इस प्रकार शोक से सन्तप्त, शिथिल अङ्गोंवाली सीता करुण विलाप कर, पति का गाढ़ आलिंगन कर उच्च स्वर से रोने लगी।

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम्।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा॥ २४॥

तब श्रीराम ने मूर्च्छित-प्राय और शोकविकल सीता का अपनी भुजाओं से आलिंगन करके उसे विश्वास दिलाते हुए कहा—

न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये।
न हि मेऽस्ति भयं किञ्चित्स्वयम्भोरिव सर्वतः॥ २५॥

हे देवि! तुम्हारे दुःख को देखकर मुझे स्वर्ग भी अच्छा नहीं लगा (तुम्हारा यह कहना कि मैं भय के कारण तुम्हें वन में नहीं ले जाना चाहता उचित नहीं, क्योंकि) ब्रह्मा के समान मुझे कहीं भी किसी प्रकार का भय नहीं है।

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे॥ २६॥

(तुम्हारा यह कहना भी ठीक नहीं कि मैं तुम्हारी रक्षा करने में असमर्थ हूँ, क्योंकि) मैं सब भाँति तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ, परन्तु मुझे तुम्हारे मन का अभिप्राय ज्ञात नहीं था, इसलिए मुझे तुम्हारा वन-गमन पसन्द नहीं था।

यत्सृष्टाऽसि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा॥ २७॥

हे मैथिलि! यदि तुम मेरे साथ वनवास के लिए निर्मित की गई हो तो मैं तुम्हें इसी प्रकार नहीं छोड़ सकता जैसे शीलयुक्त=चरित्रवान् मनुष्य अपनी कीर्ति को नहीं छोड़ सकता।

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा।
तं चाहमनुवर्तेऽद्य यथा सूर्यं सुवर्चला॥ २८॥

हे हाथी के सूँड के समान जाँघोंवाली! पहले के सज्जन लोग जैसा धर्माचरण कर गये हैं मैं भी उसी का आचरण करूँगा और तू भी कर। जैसे सुवर्चला नक्षत्र सूर्य का अनुसरण करता है इसी प्रकार तू भी मेरा अनुसरण कर।

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम्॥ २९॥

हे जनकनन्दिनी! निश्चय ही मैं अपनी इच्छा से वन नहीं जा रहा हूँ, अपितु सत्य के पाश में बँधे हुए पिता की आज्ञा पालनार्थ ही मैं वन जा रहा हूँ।

एष धर्मस्तु सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे॥ ३०॥

हे श्रेष्ठ कटि-प्रदेशवाली! पिता और माता का कहना मानना ही पुत्र के लिए धर्म है, अतः माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर मैं जीना उचित नहीं समझता।

यत्त्रयं तत्त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते॥ ३१॥

तीन की (माता, पिता और आचार्य) आराधना से तीनों लोगों की आराधना हो जाती है। संसार में इनसे बढ़कर और कोई पवित्र वस्तु नहीं है। हे सुन्दर नयने! इसीलिए मैं पिताजी की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ।

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता॥ ३२॥

हे सीते! मनुष्यों के लिए सत्य, दान, मान और दक्षिणा सहित यज्ञ वैसे हितकारी नहीं हैं जैसी पिता की सेवा।

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किञ्चदपि दुर्लभम्॥ ३३॥

माता-पिता की सेवा करनेवाले मनुष्य के लिए स्वर्ग, धन-धान्य, विद्या, पुत्र और सुख कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।

स मां पिता तथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः॥ ३४॥

अतः सत्य और धर्म-मार्ग में स्थित मेरे पिता मुझे जो आज्ञा दे रहे हैं मैं वैसा ही आचरण करना चाहता हूँ, क्योंकि यही सनातन धर्म है।

मम सन्ना मतिः सीते त्वां नेतुं दण्डकावनम्।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता॥ ३५॥

हे सीते! पहले तो तेरे मन के अभिप्राय को न जानने के कारण मेरी इच्छा तुझे वन में ले जाने की नहीं थी, परन्तु अब तेरी दृढ़ता देख मैंने तुझे अपने साथ दण्डक वन में ले जाने का निश्चय कर लिया है।

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमतिक्रान्ता सीते त्वमतिशोभनम्॥ ३६॥

हे सीते! तूने मेरे साथ जो वन जाने का निश्चय किया है यह मेरे और तुम्हारे कुल के अनुरूप ही है।

आरभस्व गुरुश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते॥ ३७॥

हे सुन्दर कटिवाली! अब वनवास की तैयारी करो। इस समय तेरे विना मुझे स्वर्ग भी अच्छा नहीं लगता।

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः सन्त्वरस्व च मा चिरम्॥ ३८॥

स्तुतिपाठ करनेवाले ब्राह्मणों को रत्न आदि उत्तम पदार्थ और भिक्षुकों को भोजन देकर जल्दी चलने की तैयारी करो, देर न होने पाये।

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी॥ ३९॥

मनस्विनी एवं यशस्विनी सीता अपना मनोरथ पूर्ण हुआ जानकर अति प्रसन्न हुई और पति के वचनानुसार धर्मात्माओं को धन और रत्नादि प्रदान करने लगी।

षड्विंशः सर्गः (२६)

लक्ष्मण को भी अनुमति—

एवं श्रुत्वा तु संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन्॥ १॥
स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम्॥ २॥

श्रीराम और सीताजी के इस प्रकार संवाद आरम्भ होने से पूर्व ही लक्ष्मण वहाँ पहुँच गये थे। इस संवाद को सुनकर उनकी आँखों में आँसू भर आये। इस दुःख को सहने में असमर्थ लक्ष्मण ने भाई के चरणों का गाढ़ालिंगन कर महायशस्वी सीता और महाव्रत-धारी श्रीराम से कहा—

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः॥ ३॥

यदि आपने सिंह और हाथियों से युक्त वनों में जाने का निश्चय कर ही लिया है तो मैं धनुष धारण कर आपके आगे-आगे चलूँगा।

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं वाऽपि लोकानां कामये न त्वया विना॥ ४॥

हे राम! आपके बिना मैं देवलोक में जाना, अमरत्व=मोक्ष प्राप्त करना तथा संसार के ऐश्वर्य आदि कुछ भी नहीं चाहता।

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत्॥ ५॥

वनवास के लिए दृढ़निश्चयी लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर श्रीराम ने उन्हें अनेक प्रकार समझाया और वन जाने से रोका तो लक्ष्मणजी बोले—

अनुज्ञातश्च भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्।
किमिदानीं पुनरिदं क्रियते मे निवारणम्॥ ६॥

हे भाई! आपने मुझे तो पहले ही वन जाने की स्वीकृति[1] दे दी थी, फिर आप मुझे क्यों रोक रहे हैं।

ततोऽब्रवीत् महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः।
स्थितं प्राग्गामिनं वीरं याचमानं कृताञ्जलिम्॥ ७॥

तब वन में जाने के लिए उद्यत, हाथ जोड़ कर वन जाने की याचना करते हुए अपने समक्ष खड़े लक्ष्मण से महातेजस्वी श्रीराम ने कहा—

स्निग्धो धर्मरतो वीर सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो भ्राता चापि सखा च मे॥ ८॥

हे लक्ष्मण! तुम मेरे स्नेही, धर्म में रत, सदैव सन्मार्ग पर चलनेवाले हो। तुम मुझे प्राणों के समान प्रिय हो, मेरे अनुवर्ती, मेरे भाई एवं मित्र भी हो।

मयाऽद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम्॥ ९॥

(अतः तुम्हारे मेरे साथ चलने से मुझे सब प्रकार लाभ ही होगा, परन्तु) यदि तुम मेरे साथ वन को चल दिये तो यहाँ यशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्रा की सेवा-शुश्रूषा कौन करेगा?

तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थमिमं चर॥ १०॥

१. वस्तुतः रामायण में स्पष्ट रूप से श्रीराम ने लक्ष्मण को वन ले चलने की कोई स्वीकृति नहीं दी थी। लक्ष्मणजी ने श्रीराम के मुख से निःसृत निम्न श्लोक से यह आशय निकाला है—

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥

—अयो० २२।१३

हे सीते! भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं। तुम उनकी देख-भाल के लिए अयोध्या में ही रहो।

लक्ष्मण राम और सीता के संवाद को सुन रहे थे। बस, उन्होंने सोचा कि मैं सीता द्वारा रक्षित व्यक्तियों में नहीं हूँ। श्रीराम वन में ले जाना चाहते हैं।

अत: लक्ष्मण! तुम यहीं रहकर स्वयं अथवा महाराज का अनुग्रह प्राप्त कर अथवा जैसे भी हो आर्या कौसल्या आदि का भरण-पोषण करो। मेरे इस उचित आदेश का पालन तुम्हें करना ही चाहिए।

एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता।
धर्मज्ञ गुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान्॥ ११॥

हे धर्मज्ञ! ऐसा करने से मेरे प्रति तुम्हारी परम भक्ति प्रदर्शित होगी और साथ ही माताओं की सेवा से तुम्हें बड़ी भारी कीर्ति भी प्राप्त होगी।

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम्॥ १२॥

श्रीराम के ऐसा कहने पर बोलनेवालों में चतुर श्रीलक्ष्मण ने वाक्य-विशारद श्रीराम से कहा—

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नात्र संशयः॥ १३॥

हे वीर! आपके प्रताप से भरतजी कौसल्या और सुमित्रा की सेवा-शुश्रूषा करेंगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

यदि दुष्टो न रक्षेत भरतो प्राप्य श्रीमिमाम्।
तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः॥ १४॥

यदि दुष्ट भरत इस उत्तम राज्य को पाकर माताओं की सेवा नहीं करेगा तो मैं उस नीच और नृशंस को मार डालूँगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रमपि मद्विधान।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुजीविनाम्॥ १५॥

जिसके नौकर-चाकर सहस्रों ग्रामों के स्वामी हैं वह आर्या कौसल्या मेरे जैसे सहस्रों व्यक्तियों का भरण-पोषण कर सकती है। (अत: उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है।)

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते॥ १६॥

अत: आप मुझे अपना अनुचर बनाइए। इसमें कोई अधर्म नहीं होगा। आपके ऐसा करने से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा और आपका भी काम निकलेगा।

धनुरादाय सशरं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थनमनुदर्शयन्॥ १७॥

(काम क्या निकलेगा)? मैं बाण-सहित धनुष तथा खनित्र=कुदाल और टोकरी लेकर आपको मार्ग दिखाता हुआ आपके आगे-आगे चलूँगा।

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि यानि चान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥ १८॥

मैं आपके लिए प्रतिदिन कन्दमूल-फल तथा तपस्वियों के भोजन करने योग्य अन्य श्रेष्ठ वस्तुएँ भी ला दिया करूँगा।

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम्॥ १९॥

श्रीराम लक्ष्मण के इन वचनों को सुन अति प्रसन्न हो उससे बोले—हे लक्ष्मण! जाओ, अपनी माता और सुहृज्जनों से वन-गमन की आज्ञा ले आओ।

◄ सप्तविंशः सर्गः ► (२७)

राम और लक्ष्मण द्वारा धन-दान—

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परन्तप॥ १॥

(जब लक्ष्मणजी आज्ञा प्राप्त करके लौट आये तब राम उनसे बोले) हे भाई! मेरे पास जो धन है मैं इसे ब्राह्मणों और तपस्वियों को देना चाहता हूँ, अत: इस कार्य में मेरी सहायता करो।

उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतामिति।
ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्वमेवोपजीविनः॥ २॥

फिर उन्होंने कोशाध्यक्ष से धन लाने के लिए

कहा। आज्ञा पाते ही नौकरों ने लाकर धन का ढेर लगा दिया।

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं सह लक्ष्मणः।
द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यः ह्यदापयत्॥ ३॥

तब लक्ष्मण सहित राम ने वह धन ब्राह्मणों, वृद्धों और दीन-दुःखियों में वितरित कर दिया।

तत्रासीत्पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः।
उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली॥ ४॥

वहाँ पर पिंगल=हल्के पीले वर्णवाला गर्ग-गोत्री, त्रिजट नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह उञ्छवृत्ति से निर्वाह करता था। वह नित्य फावड़ा, कुदाल और हल लेकर वन जाता और फल-मूल जो कुछ वहाँ मिलते उनसे अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करता।

तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान्।
अब्रवीद्ब्राह्मणं वाक्यं दारिद्र्येणाभिपीडिता॥ ५॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम।
रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किञ्चिदवाप्स्यसि॥ ६॥

दारिद्र्य दुःख से पीड़ित वृद्ध की तरुणी भार्या छोटे-छोटे बच्चों को उसके सामने लाकर बोली—अब इस फावड़े और कुदाल को तो परे फेंको और जैसा मैं कहूँ वह कार्य करो। यदि तुम धर्मज्ञ श्रीराम के पास जाओ तो तुम्हें भी कुछ प्राप्ति हो जायेगी।

भार्याया वचनं श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम्।
स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम्॥ ७॥

स्त्री का वचन सुन वृद्ध ब्राह्मण फटे-पुराने चिथड़ों से किसी प्रकार अपना शरीर ढाँप कर श्रीराम के घर की ओर चल दिया।

स राजपुत्रमासाद्य त्रिजटो वाक्यमब्रवीत्।
निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महायशः॥ ८॥
उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति।
तमुवाच तदा रामः परिहाससमन्वितम्॥ ९॥
गवां सहस्रमप्येकं न तु विश्राणितं मया।
परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसि॥ १०॥

वहाँ जा त्रिजट ने राजकुमार श्रीराम से कहा—हे महायशस्वी राजकुमार! मैं निर्धन हूँ तथा बहुत बाल-बच्चेवाला हूँ। मैं उञ्छवृत्ति से निर्वाह करता हूँ। मेरे ऊपर भी दया-दृष्टि होनी चाहिए। यह सुन श्रीराम ने उससे परिहासपूर्वक कहा—मैंने अपनी असंख्य गौओं में से अभी एक सहस्र गायें भी नहीं दी हैं। तुम अपना डण्डा फेंको। जितनी दूर तुम्हारा डण्डा जा गिरेगा उतने बीच में जितनी गायें खड़ी हो सकेंगी उतनी गायें मैं तुम्हें दूँगा।

स शाटीं त्वरितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम्।
आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगितः॥ ११॥

श्रीराम की यह बात सुन त्रिजट ने वह चिथड़ा कस कर तुरन्त कमर में लपेटा और डण्डे को घूमा कर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे फेंका।

स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः।
गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षाणसन्निधौ॥ १२॥

उसके हाथ से छूटा हुआ वह डण्डा सरयू नदी के उस पार जहाँ सहस्रों गाय और साँडों का झुण्ड था, जा गिरा।

तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात्सरयूतटात्।
आनयामास ता गोपैस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति॥ १३॥

श्रीराम ने उस ब्राह्मण को गले से लगाया और सरयू के किनारे तक की उन सब गौओं को गोपालों के द्वारा त्रिजट के आश्रम में भिजवा दिया।

उवाच च ततो रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन्।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम॥ १४॥

तत्पश्चात् उस गर्ग-गोत्री ब्राह्मण को सान्त्वना प्रदान करते हुए श्रीराम ने कहा—हे ब्राह्मण! क्रोध न करना, मैंने आपके साथ परिहास किया था।

≺ अष्टाविंशः सर्गः ≻ (२८)

दशरथ-समाश्वासन—

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ॥ १॥

इस प्रकार राम-लक्ष्मण और सीता ने ब्राह्मणों को बहुत सारा धन दिया। तदनन्तर वे तीनों महाराज दशरथ से मिलने गये।

पदातिं सानुजं दृष्ट्वा ससीतं च जनास्तदा।
ऊचुर्बहुविधा वाचः शोकोपहतचेतसः॥ २॥

अपने छोटे भाई लक्ष्मण तथा सीता सहित पैदल जाते हुए श्रीराम को देखकर लोग अत्यन्त दुःखी थे और अनेक प्रकर की बातें कह रहे थे।

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद्विप्रवासनम्।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम्॥ ३॥

कोई कहता—लोग अपने गुणहीन पुत्र को भी घर से बाहर नहीं निकालते, फिर ऐसे पुत्र का जिसने अपने चरित्र से सब लोगों को अपने वश में कर लिया है, निर्वासन कैसे हो सकता है?

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम्॥ ४॥

कोई कहता—केवल सदाचार ही नहीं, अपितु अहिंसा, दया, विद्या, सुशीलता, दम=इन्द्रियदमन और शम=चित्त की शान्ति—ये छह गुण पुरुषश्रेष्ठ राम को शोभित कर रहे हैं।

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च।
एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम्॥ ५॥

कोई कहता—हम लोग बाग-बगीचा, खेती-बाड़ी और घर-द्वार का परित्याग करके धर्मात्मा श्रीराम के पीछे-पीछे उनके दुःख-सुख के साथी बन कर जायँगे।

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः।
शुश्राव रामः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम्॥ ६॥

श्रीराम लोगों के मुख से विविध प्रकार की बातें सुनते जाते थे, परन्तु इन बातों से उनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ।

स तु वेश्म पितुर्दूरात्कैलासशिखरप्रभम्।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः॥ ७॥

धर्मात्मा श्रीराम मतवाले हाथी की तरह कि विक्रम प्रदर्शित करनेवाली चाल से धीरे-धीरे कैलास शिखर की कान्ति के समान दिखाई देनेवाले अपने पिता के भवन की ओर जाने लगे।

विनीतवीरपुरुषं स प्रविश्य नृपालयम्।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः॥ ८॥

राजमहल के द्वार पर वीर लोग विनीत भाव से खड़े थे। श्रीराम उनके पास से आगे बढ़े और थोड़ी ही दूर पर उन्होंने उदास मन खड़े हुए सुमन्त्र को देखा।

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति॥ ९॥

कमलनेत्र, श्यामवर्ण अनुपम एवं महागुणी श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा कि पिताजी को हमारे आने की सूचना दो।

स रामप्रेषितः क्षिप्रं तं वर्धयित्वा राजानम्।
भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णमब्रवीत्॥ १०॥

राम के द्वारा प्रेषित सुमन्त्र ने भीतर जाकर महाराज का अभिवादन कर डरते-डरते धीमे स्वर में ये मधुर वचन बोले—

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः।
सर्वान्सुहृद आपृच्छ्य त्वामिदानीं दिदृक्षते॥ ११॥

महाराज! पुरुषसिंह आपके पुत्र द्वार पर खड़े हैं, सब सुहृज्जनों से विदा हो वे आपके दर्शन करने के लिए आए हैं।

स सत्यवादी धर्मात्मा गाम्भीर्यात्सागरोपमा।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम्॥ १२॥

सुमन्त्र की बात सुन सत्यवादी, धर्मात्मा और गम्भीरता में समुद्र के समान महाराज दशरथ ने सुमन्त्र से कहा—हे सुमन्त्र! मेरे पुत्र को यहाँ ले आओ।

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तदा।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः॥ १३॥

तब सुमन्त्र श्रीराम, लक्ष्मण और सीता को साथ लेकर शीघ्र महाराज दशरथ के निकट चले।

स राजा पुत्रमायन्तं दृष्ट्वा दूरात्कृताञ्जलिम्।
उत्पपातासनात्तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृत्तः॥ १४॥

उस समय दुःखी एवं स्त्रियों से घिरे हुए महाराज दशरथ दूर से ही हाथ जोड़े हुए पुत्र को आते देखकर तुरन्त अपने आसन से उठ खड़े हुए।

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशांपतिः।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्च्छितः॥ १५॥

वे श्रीराम को देखकर उनकी ओर बड़े वेग से दौड़े, परन्तु दुःखी राजा उन तक न पहुँच मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े।

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन्॥ १६॥

राम और लक्ष्मण ने भुजाओं को पकड़कर महाराज को उठाया और सीता सहित रोते हुए उन्हें पलंग पर ले-जाकर बैठाया।

अथ रामो मुहूर्त्तेन लब्धसंज्ञं महीपतिम्।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा शोकार्णवपरिप्लुतम्॥ १७॥

जब एक मुहूर्त पश्चात् महाराज सचेत हुए तब शोक-समुद्र में डूबे हुए महाराज दशरथ को राम हाथ जोड़कर बोले—

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम्॥ १८॥

हे महाराज! मैं आपसे वन-गमन की आज्ञा लेने आया हूँ। आप हम सब लोगों के स्वामी हैं। मैं दण्डक वन में जा रहा हूँ। आप एक बार मुझे कृपा-दृष्टि से देखिए।

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेति मां वनम्।
कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः॥ १९॥

लक्ष्मण और सीता को भी मेरे साथ जाने की आज्ञा दीजिए। मैंने अनेक उचित कारण बतला इन्हें रोकना चाहा, परन्तु ये रुकते नहीं, जाना चाहते हैं।

अनुजानीहि सर्वान्नः शोकमुत्सृज्य मानद।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिव प्रजाः॥ २०॥

हे सबको मान देनेवाले! आप शोक का परित्याग कर हम सबको वैसे ही आज्ञा दीजिए जैसे प्रजापति अपनी प्रजा को देते हैं।

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम्॥ २१॥

व्याकुलता-रहित राम को वन जाने की आज्ञा की प्रतीक्षा करते जान महाराज दशरथ उनकी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देखकर बोले—

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायास्त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥ २२॥

हे राम! कैकेयी ने वरदान के द्वारा मुझे धोखा दिया है, अतः तुम मुझे बन्दी बनाकर बलपूर्वक अयोध्या के राजा बनो।

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतांवरः।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः॥ २३॥

महाराज के ऐसा कहने पर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ और बोलने में चतुर श्रीराम हाथ जोड़कर पिताजी से बोले—

भवान्वर्ष सहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे कार्यं त्वयाऽनृतम्॥ २४॥

राजन्! आप अनेक वर्षों तक पृथिवी का पालन करें। मैं आपको मिथ्यावादी नहीं बनाना चाहता। मैं अवश्य वन में वास करूँगा।

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप॥ २५॥

हे नराधिप! चौदह वर्ष वन में निवास कर और

अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर मैं पुनः आपकी चरण-सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयतः।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत्॥ २६॥

सत्यरूपी पाश में बँधे हुए कैकेयी द्वारा प्रेरित दुःखी और रोते हुए महाराज दशरथ अपने प्रिय पुत्र राम से बोले—

श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च।
गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम्॥ २७॥

हे वत्स! इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख के लिए, पुनः लौट जाने के लिए तुम निश्चिन्त होकर वन जाओ। तुम्हारा मार्ग शुभ एवं निर्भय हो।

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव।
विनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन॥ २८॥

हे रघुनन्दन! तुम सत्य-पालन में दृढ़ और धर्म में मन लगानेवाले हो, अतः तुम्हें इनसे हटा कर दूसरे मार्ग पर चलाने की शक्ति किसी में नहीं है।

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहदर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्॥ २९॥

परन्तु पुत्र! आज की रात्रि तो तुम किसी प्रकर यहीं रह जाओ। एक दिन तो और मैं तुम्हारे साथ रहने का सुख भोग लूँ।

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव त्वया।
मत्प्रियार्थं प्रियांत्यक्त्वा यद्यासि विजनं वनम्॥ ३०॥

पुत्र राम! तुम यह अत्यन्त दुष्कर कार्य कर रहे हो जो मेरा प्रिय करने के लिए, तुम अपने सब प्रियजनों को छोड़कर वन जा रहे हो।

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव।
छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया छन्नाग्निकल्पया॥ ३१॥

हे वत्स! मैं सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारा वन जाना मुझे अभिमत नहीं है, परन्तु क्या करूँ मैं भस्म में छिपी हुई अग्नि की भाँति भयंकर एवं कुटिल अभिप्रायवाली कैकेयी की चाल में फँस गया हूँ।

वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याऽभिप्रचोदितः॥ ३२॥

मैं कुलकलङ्किनी कैकेयी के जिस जाल में फँस गया हूँ तुम इसके कहने में आकर उस प्रतिज्ञा को पूर्ण करना चाहते हो।

न चैतदाश्चर्यतमं यस्त्व ज्येष्ठः सुतो मम।
अपानृतकथं पुत्र पितर कर्तुमिच्छसि॥ ३३॥

पुत्र! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः तुम अपने पिता को सत्यवादी ठहराना चाहते हो।

अथ रामस्तथा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत्॥ ३४॥

इस प्रकार अति दुःखी पिता के वचन सुन लक्ष्मण सहित श्रीराम दीनतापूर्वक बोले—

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान्को मे श्वस्तान्प्रदास्यति।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे॥ ३५॥

आज वनगमन से प्रतिज्ञा पालन रूपी जो पुण्य-फल मुझे प्राप्त होगा वह कल वन जाने पर प्राप्त नहीं हो सकता, अतः यहाँ से शीघ्र चले जाना ही मैं अपनी अन्य सब कामनाओं की अपेक्षा उत्तम समझता हूँ।

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं च मैथिलीम्।
नैव सर्वानिमान्कामान्न स्वर्गं नैव जीवितम्॥ ३६॥

हे महाराज! मैं न राज्य चाहता हूँ न सुख, न मुझे सीता की इच्छा है और न राज-भोगों की। मैं स्वर्ग भी नहीं चाहता। यहाँ तक कि मैं अपना जीवन भी नहीं चाहता। (तब क्या चाहता हूँ?)

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे॥ ३७॥

मैं आपको सत्यवादी देखना चाहता हूँ, मिथ्यावादी नहीं। आप देवता-स्वरूप हैं। यह बात मैं आपके सामने सत्य और धर्म की शपथ खाकर कहना चाहता हूँ।

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो।
न शोकं धारयस्वैनं न हि मेऽस्ति विपर्ययः॥ ३८॥

हे तात! रात भर की तो बात ही क्या, मैं अब एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहर सकता। प्रभो! अब आप धैर्य धारण कीजिए। मेरा संकल्प अब बदल नहीं सकता।

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये॥ ३९॥

जब कैकेयी ने मुझे कहा कि "राम! तुम वन जाओ" और मैंने "बहुत अच्छा" कहकर स्वीकार किया—अपने इस कथन का पालन करना भी मेरे लिए अनिवार्य है।

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम्।
तस्माद्दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः॥ ४०॥

हे तात! पिता देवताओं का भी देवता होता है, अतः आपको परम देवता समझ मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम्।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्
वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम्॥ ४१॥

मैं अयोध्या और पृथिवी के राज्य को छोड़कर जाता हूँ, आप इसे भरत को दे दीजिए। मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ चिरकाल तक वनवास के लिए जाऊँगा।

फलानि मूलानि च भक्षयन्वने
गिरींश्च पश्यन्सरितः सरांसि च।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृत्तिः॥ ४२॥

नाना प्रकार के विचित्र वृक्षों से सुशोभित वन में प्रवेश करके वहाँ फल और मूल खाता हुआ तथा नदियों और सरोवरों को देखता हुआ मैं सुखपूर्वक रहूँगा। आप भी प्रसन्न एवं सुखी हों।

एवं स राजा व्यसनाभिपन्नः
शोकेन दुःखेन च ताप्यमानः।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
मोहं गतो नैव चिचेष्ट किञ्चित्॥ ४३॥

यह सुन महाराज दशरथ क्लेशित तथा शोक एवं दुःख से सन्तप्त हो श्रीराम का आलिंगन कर, मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। मोह को प्राप्त वे बिलकुल निश्चेष्ट हो गये।

देव्यस्ततः संरुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरेदवपत्नीम्।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम्॥ ४४॥

उस समय कैकेयी को छोड़कर और सब स्त्रियाँ कौसल्या के पास एकत्र होकर रोने लगीं। रोते-रोते सुमन्त्र भी मूर्च्छित हो गये। वहाँ सर्वत्र हाहाकार मच गया।

➤ एकोनत्रिंशः सर्गः ➤ (२९)

सुमन्त्र द्वारा कैकेयी की भर्त्सना—

ततो निर्धूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत्।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य सुमन्त्रः प्रत्यभाषत॥ १॥

मूर्च्छा भङ्ग होने पर सहसा सिर पीटकर, हाथों को मल कर और दीर्घ निःश्वास लेते हुए सुमन्त्र बोले—

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम्।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः॥ २॥

हे देवि! तूने अपने महाराज दशरथ का ही परित्याग कर दिया, अतः मैं तुझे पति की हत्या करनेवाली और कुल का नाश करनेवाली मानता हूँ।

माऽवमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम्।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते॥ ३॥

कैकेयि! तू अपने पति का तिरस्कार मत कर। वे तुम्हारे पति, रक्षक और वर देनेवाले हैं। स्त्रियों के लिए पति की इच्छा के अनुसार चलना करोड़ों पुत्रों के स्नेह से भी बढ़कर है।

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तल्लोपयितुमिच्छसि॥ ४॥

देखो! राजा के मरने पर राज्य का स्वामी अवस्थानुसार ज्येष्ठ पुत्र होता है। क्या तुम महाराज दशरथ के जीवित रहते ही इक्ष्वाकुकुल की इस प्राचीन व्यवस्था का लोप करना चाहती हो।

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम्।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति॥ ५॥

अच्छी बात है—तम्हारा पुत्र भरत राजा हो और वह पृथिवी पर शासन करे। हम लोग तो वहीं जायेंगे जहाँ श्रीराम जा रहे हैं।

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम्।
आचरन्त्या न विदृता सद्यो भवति मेदिनी॥ ६॥

मुझे बड़ा आश्चर्य यह है कि तुम्हारे इस दुष्टाचरण को देखकर भी यह पृथिवी फट क्यों नहीं जाती।

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु यः।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत्॥ ७॥

कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो मधुर फल देनेवाले आम के पेड़ को कुल्हाड़ी से काट कर उस कड़वे नीम के पेड़ को सींचेगा, जो दूध से सींचने पर भी कभी मीठे फल नहीं दे सकता।

अभिजातां हि ते मन्ये यथामातुस्तथैव च।
न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः॥ ८॥

नीम से कभी मधु नहीं टपकता—यह लोकोक्ति ठीक ही है। यही कारण है जैसी तुम्हारी माता थीं वैसे ही तुम भी निकलीं—

सत्यश्चाद्य प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा।
पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः॥ ९॥

यह लौकिक प्रवाद मुझे ठीक ही प्रतीत होता है कि पुत्र पिता के स्वभाववाले और लड़कियाँ माता के स्वभाववाली होती हैं।

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव॥ १०॥

देखो! तुम अपनी माता जैसी मत बनो और महाराज का कहना मानो। अपने पति की इच्छा के अनुसार आचरण करके तुम उनकी रक्षा करो।

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम्।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादधाः॥ ११॥

हे देवि! तुम पापों से प्रोत्साहित होकर इन्द्र के समान तेजस्वी, प्रजापालक पति से यह निन्दित कर्म (बड़े के सामने छोटे को राज्य) मत करवाओ।

परिवादो हि ते देवि महांल्लोके चरिष्यति।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम्॥ १२॥

हे देवि! यदि श्रीराम अपने पिता महाराज दशरथ को छोड़कर वन में चले गये तो संसार में तुम्हारी बहुत निन्दा होगी।

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि।
सुमन्त्रः क्षोभयामास भूय एव कृताञ्जलिः॥ १३॥

इस प्रकार सुमन्त्रजी ने राजसभा में हाथ जोड़कर कोमल और कठोर वचनों से कैकेयी को बार-बार क्षुब्ध किया।

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते।
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा॥ १४॥

परन्तु कैकेयी न तो क्षुब्ध हुई और न उसे कोई पश्चात्ताप ही हुआ। उसके मुख की रंगत में भी कोई अन्तर नहीं आया।

त्रिंशः सर्गः (३०)

सिद्धार्थ का कैकेयी को समझाना—

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया।
सबाष्पमतिनिःश्वस्य जगादेदं पुनः पुनः॥ १॥

जब सुमन्त्र के कहने-सुनने का भी कैकेयी पर कोई प्रभाव नहीं हुआ तब अपनी प्रतिज्ञा से दुःखी इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथ गरम आहें भरते हुए सुमन्त्र से बोले—

सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम्॥ २॥

हे सुमन्त्र! श्रीराम के साथ जाने के लिए विविध प्रकार के रत्नों से युक्त चतुरंगिणी सेना शीघ्र तैयार करो।

धान्यकोशश्च यः कश्चिद्धनकोशश्च मामकः।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने॥ ३॥

अन्न तथा धन के जो मेरे निजी भण्डार हैं वे सब भी निर्जन वन में रहनेवाले श्रीराम के साथ जायें।

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे मुखेन परिशुष्यता।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥

महाराज के ऐसा कहने पर कैकेयी का मुख सूख गया और वह महाराज के सम्मुख यह वचन बोली—

राज्यं गतजनं साधो पीतमण्डां सुरामिव।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते॥ ५॥

हे साधो! सारहीन सुरा की भाँति धन-धान्य से रहित जन-शून्य, अतः उपभोग के अयोग्य राज्य को भरत नहीं लेगा।

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत्।
असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति॥ ६॥

तुम्हारे ही वंश में राजा सगर ने 'असमञ्ज' नाम से विख्यात अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य-भोगों से वञ्चित करके निकाल दिया था। इसी प्रकार श्रीराम भी राज्य-भोगों से रहित ही वन को जाये।

एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत्।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तं नावबुध्यत॥ ७॥

कैकेयी के ऐसा कहने पर महाराज ने कहा "तुम्हें धिक्कार है।" वहाँ बैठे अन्य लोग भी कैकेयी की इस बात को सुनकर लज्जित हो गये, परन्तु कैकेयी तनिक भी लज्जित न हुई।

ततः वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः।
शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ ८॥

तब वृद्ध, पवित्र आचरणवाले और महाराज के अत्यन्त प्रिय सिद्धार्थ नामक सचिव ने कैकेयी से कहा—

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान्।
सरय्वाः प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः॥ ९॥

हे देवि! (असमञ्ज और राम की क्या तुलना) असमञ्ज तो बड़ा दुष्ट-बुद्धि था। वह सड़क पर खेलते हुए बालकों को पकड़ पर सरयू में फेंक दिया करता था और इस कृत्य से प्रसन्न होता था।

इत्येवमत्यजद्राजा सगरो वै सुधार्मिकः।
रामः किमकरोत्पापं येनैवमुपरुध्यते॥ १०॥

इस पाप के कारण धार्मिक राजा सगर ने अपने दुष्ट-चरित्र ज्येष्ठ पुत्र को देश से निकाल दिया था, परन्तु राम ने ऐसा कौन-सा पाप किया है जिसके कारण इनको वनवास दिया जा रहा है?

न हि कञ्चन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम्।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम्॥ ११॥

हम लोग राम में कोई दोष नहीं देखते। वे तो कलंक-रहित चन्द्रमा के समान निष्पाप हैं।

अदुष्टस्य हि सन्त्यागः सत्पथे निरतस्य च।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मनिरोधनात्॥ १२॥

हे देवि! सज्जन एवं सुमार्ग पर चलनेवाले पुरुष का परित्याग करने से अधर्म होता है और ऐसा अधर्म

इन्द्र के तेज को भी नष्ट कर देता है।

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने॥ १३॥

हे देवि! राम के राज्याभिषेक की शोभा नष्ट करने से तुम्हें क्या लाभ? इस कार्य से विरत हो जाओ। हे सुमुखि! तुम्हें लोकापवाद से भी बचना चाहिए।

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वनः।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ १४॥

सिद्धार्थ के ऐसे वचन सुन महाराज दशरथ ने शोक से विकल हो बहुत धीमे स्वर में कैकेयी से कहा—

एतद्वचो नेच्छसि पापवृत्ते
हितं न जानासि ममात्मनो वा।
आस्थाय मार्गं कृपणं कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता॥ १५॥

हे पापिन्! तुझे सिद्धार्थ की बात भी अच्छी नहीं लगी। मेरी और तेरी भलाई किसमें है तुम यह भी नहीं जानतीं। तुम कुत्सित मार्ग पर चलने की कुचेष्टा कर रही हो। तुम्हारा प्रयत्न सज्जनोचित मार्ग से विपरीत चलने का ही है।

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य धनं सुखं च।
सहैव राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम्॥ १६॥

अतः मैं राज्य, सुख और धन सब कुछ छोड़कर राम के साथ वन जाऊँगा। तुम अपने पुत्र भरत के साथ सदा के लिए सुखपूर्वक राज्य का उपभोग करो।

❮ एकत्रिंशः सर्गः ❯ (३१)

वल्कल-वस्त्र-धारण—

महामात्र-वचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत्॥ १॥

प्रधानमन्त्री सिद्धार्थ के वचनों को सुनकर विनयमूर्ति श्रीराम ने नम्रतापूर्वक महाराज दशरथ से कहा—

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः॥ २॥

हे महाराज! जब मैं राज-भोगों को छोड़ चुका और वन में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों से अपना निर्वाह करना स्वीकार कर चुका, फिर मेरे साथ सेना आदि भेजने की क्या आवश्यकता है?

यो हि दत्त्वा गजश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम्॥ ३॥

जो मनुष्य हाथी दान करके हाथी बाँधने की रस्सी न देना चाहे, तो उस उत्तम हाथी देनेवाले को रस्सी की ममता से क्या लाभ?

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे॥ ४॥

हे सज्जनश्रेष्ठ जगत्पते! मुझे सेना से क्या प्रयोजन? यह सेना आदि सब कुछ मैं भरत के लिए देता हूँ। मेरे लिए तो वल्कल वस्त्र मँगवा दीजिए।

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छतः।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम॥ ५॥

मुझे चौदह वर्ष तक वन में रहना है, अतः कन्दमूल-फल खोदने और काटने के लिए मुझे एक कुदाल और एक टोकरी मँगवा दीजिए जिससे मैं अब शीघ्र वन को प्रस्थान करूँ।

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम्।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा॥ ६॥

उस जन-समुदाय के बीच में निर्लज्ज कैकेयी स्वयं वल्कल वस्त्र ले आयी और श्रीराम से बोली—

"लो, इन्हें पहनो।"

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्या प्रतिगृह्य ते।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह॥ ७॥

पुरुषसिंह श्रीराम ने कैकेयी से वे वल्कल वस्त्र ले लिये और अपने बहुमूल्य महीन वस्त्रों को उतार कर मुनि-वस्त्रों को धारण कर लिया।

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः॥ ८॥

लक्ष्मणजी ने भी पिता के सामने ही सुन्दर वस्त्रों को उतार कर तापस वस्त्र धारण कर लिये।

समीक्ष्य चीरं सा सीता भर्तारमिदमब्रवीत्।
कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः॥ ९॥

उस वल्कल को देख सीता ने अपने पति श्रीराम से कहा—वनवासी मुनि वल्कल वस्त्र कैसे पहना करते हैं?

कृत्वा कण्ठे च सा चीरमेकमादाय पाणिना।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा॥ १०॥

तब इस कार्य में अकुशल सीता उस वल्कल का एक सिरा गले में लपेट और दूसरा सिरा हाथ में पकड़ लज्जित हो वहाँ खड़ी रहीं।

तस्यास्तत्क्षिप्रमागम्य रामो धर्मभृतां वरः।
चीरं बबन्ध सीतयाः कौशेयस्योपरि स्वयम्॥ ११॥

सीता की ऐसी देशा देखकर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीराम ने तुरन्त उसके समीप आकर रेशमी वस्त्रों के ऊपर उस चीर को स्वयं बाँध दिया।

चीरे गृहीते तु तया समीक्ष्य नृपतेर्गुरुः।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ १२॥

सीता को चीर धारण किये हुए देखकर महाराज दशरथ के गुरु वसिष्ठजी ने सीता को वल्कल वस्त्र पहनने के लिए मना कर कैकेयी से कहा—

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
वञ्चयित्वा च राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसे॥ १३॥

अयि दुर्बद्धे! कुलकलङ्किनि! महाराज को धोखा देकर तू मर्यादा का उल्लंघन कर चुकी। अस्तु, जो हुआ सो हुआ, अब तो मर्यादा के भीतर रहो।

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्॥ १४॥

हे दुःशीले! देवी सीता वन को नहीं जायेगी, अपितु श्रीराम के वन से लौटने तक राजसिंहासन पर बैठकर राज्यशासन करेगी।

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण सङ्गता।
वयमप्यनुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति॥ १५॥

यदि सीता राम के साथ वन गई तो हम लोग ही नहीं, किन्तु सारे अयोध्यावासी राम के साथ वन चले जायेंगे।

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम्॥ १६॥

भरत और शत्रुघ्न भी चीर धारण करके तपस्वियों के वेश में अपने बड़े भाई के साथ वनवासी हो जायेंगे।

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता॥ १७॥

जब इस राज्य की भूमि मनुष्यों से शून्य हो जायेगी—केवल वृक्ष-ही-वृक्ष ही रह जायेंगे तब कुटिल व्यवहार करनेवाली, प्रजा की अहितकारिणी तू अकेली वृक्षों पर राज्य करना।

न ह्यदत्तां महीं पित्रा भरतः शास्तुमर्हति।
त्वयि वा पुत्रवद्वस्तुं यदि जातो महीपतेः॥ १८॥

महाराज द्वारा अप्रसन्नतापूर्वक प्रदत्त इस राज्य को भरत यदि वह महाराज का पुत्र होगा तो कभी भी ग्रहण नहीं करेगा और न तेरे साथ पुत्रवत् व्यवहार करेगा।

यद्यपि त्वं क्षितितलाद्गगनं चोत्पतिष्यति।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति॥ १९॥

भले ही तुम पृथिवी छोड़ आकाश में चली जाओ अर्थात् मर जाओ, तो भी अपने कुल के आचार को जाननेवाला भरत कुलाचार के विरुद्ध आचरण कभी न करेगा।

तत्त्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम्।
लोके हि न स विद्यते यो न राममनुव्रतः॥ २०॥

तुम भरत की भलाई सोच उसे राज्य दिला रही हो, परन्तु तुम उसका अप्रिय ही कर रही हो, क्योंकि लोक में ऐसा कोई भी नहीं है जो श्रीराम का अनुगामी न हो।

द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान्।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान्॥ २१॥

मनुष्यों की तो बात ही क्या, तुम देखोगी कि पशु, सर्प, मृग और पक्षी भी श्रीराम के साथ वन जायेंगे। वृक्ष भी राम को जाते देख, उनके साथ स्नेह में आसक्त हो उनकी ओर झुक जायेंगे।

अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम्।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत्तद्वसनं वसिष्ठः॥ २२॥

हे देवि! चीर को हटा कर अपनी वधू को उत्तम वस्त्र और आभूषण दो। यह सीता चीर पहनने योग्य नहीं है। इस प्रकार कहकर वसिष्ठजी ने सीता को चीर धारण कराने के लिए मना किया।

एकस्य रामस्य वने निवासः
त्वया वृतः केकेयराजपुत्रि।
विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेन॥ २३॥

हे केकेयराजपुत्रि! तुमने अकेले राम के लिए वनवास माँगा था, अतः सीता वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर वन में जाये और राम के साथ निवास करे।

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा॥ २४॥

विप्रश्रेष्ठ तथा अमित प्रभावशाली राजगुरु वसिष्ठजी के ऐसा कहने पर भी सीता ने उस चीर को नहीं उतारा। उतारती क्यों, वह तो अपने प्यारे पति के समान ही वल्कल वस्त्र धारण कर वन में रहना चाहती थी।

➤ द्वात्रिंशः सर्गः ➤ (३२)

वन-गमन की आज्ञा—

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक्त्वां दशरथं त्विति॥ १॥

सनाथा सीता को अनाथा के समान चीर वस्त्र धारण करते देख वहाँ उपस्थित जन-समुदाय चिल्लाया—"दशरथ! तुम्हें धिक्कार है।"

स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत्।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति॥ २॥

तब महाराज दशरथ गर्म श्वास छोड़कर अपनी पत्नी से बोले—कैकेयि! सीता कुश-चीर धारण करके वन में नहीं जायेगी।

रामेण यदि ते पापे किञ्चित्कृतमशोभनम्।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽधमे॥ ३॥

माना कि श्रीराम ने तुम्हारा कुछ बिगाड़ा था, परन्तु अरे पापिन्! मुझे बता तो सही, सीता ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था।

इतीव राजा विलपन्महात्मा
शोकस्य नान्तं स ददर्श किञ्चित्।
भृशातुरत्वाच्च पपात भूमौ
तेनैव पुत्रव्यसने निमग्नः॥ ४॥

महाराज दशरथ इस प्रकार विलाप कर और अपने शोक का कहीं अन्त न देख अत्यन्त आतुर हो भूमि पर गिर पड़े और पुत्र-वियोग-जन्य दुःख में डूब

गये।

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम्।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

इस प्रकार कहते हुए और सिर झुका कर बैठे हुए महाराज दशरथ से वन जाने के लिए उद्यत श्रीराम ने कहा—

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी।
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्॥ ६॥

हे धर्मिष्ठ! मेरी यह यशस्विनी माता कौसल्या मेरे विना शोक-सागर में डूब जायेगी।

अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः सम्मन्तुमर्हसि।
पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत्त्वया पूज्येन पूजिता॥ ७॥

इन्होंने पहले कभी दुःख नहीं देखा। यह अत्यन्त सम्मान के योग्य हैं। आप पूज्य हैं। आप इसका ऐसा सम्मान करें जिससे इन्हें पुत्र-शोक न होने पावे।

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम्।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः॥ ८॥

राम के इन वचनों को सुन और उन्हें स्त्रीसहित मुनिवेश धारण किये हुए देखकर महाराज दशरथ मूर्च्छित हो गये।

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन्॥ ९॥

एक मुहूर्त अचेत रहकर महाबाहु दशरथ दुःखित हो राम का स्मरण कर अनेक प्रकार से विलाप करने लगे—

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः।
प्राणिनो हिंसिता वापि तस्मादिदमुपस्थितम्॥ १०॥

प्रतीत होता है कि मैंने पूर्वजन्म में बहुत-सी गायों को उनके बछड़ों से अलग कर दिया था अथवा बहुत-से प्राणियों का वध किया था इसी से मेरे ऊपर यह दुःख आ पड़ता है।

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण पिहितेक्षणः।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक ह॥ ११॥

ऐसा कहकर महाराज के नेत्रों में आँसू भर आये। उन्होंने एक बार 'राम' कहा, किन्तु इसके आगे वे कुछ बोल न सके।

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात्स महीपतिः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत्॥ १२॥

थोड़ी देर में जब महाराज सचेत हुए तब उन्होंने आँखों में आँसू भर कर सुमन्त्र से कहा—

औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात्परम्॥ १३॥

तुम उत्तम घोड़ों से युक्त, सवारी के योग्य उत्तम रथ लाओ और महाभाग राम को उस पर सवार करा कर नगर से बाहर पहुँचा आओ।

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः।
योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलङ्कृतम्॥ १४॥

महाराज दशरथ की आज्ञा पाकर सुमन्त्र शीघ्र ही घोड़े जोतकर अलंकृत रथ को वहाँ ले आये।

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम्।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः॥ १५॥

उस स्वर्ण-विभूषित और उत्तम घोड़ों से युक्त रथ को राजकुमार राम के सामने खड़ाकर सुमन्त्र ने हाथ जोड़कर कहा—''रथ तैयार है।''

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसञ्चये।
उवाच देशकालज्ञं निश्चितं सर्वतः शुचिम्॥ १६॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने पवित्र आचरणवाले तथा देश-काल के जाननेवाले धनाध्यक्ष को बुलाकर कहा—

वासांसि च महार्हाणि भूषणानि वराणि च।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय॥ १७॥

उत्तम वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण जो सीताजी के लिए चौदह वर्ष के लिए पर्याप्त हों—शीघ्र लाओ।

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः।
प्रायच्छत्सर्वमाहृत्य सीतायै सममेव तत्॥ १८॥

महाराज दशरथ की आज्ञा पा धनाध्यक्ष कोशागार

में गया और निर्दिष्ट सारी वस्तुएँ लाकर सीताजी को दे दीं।

सा सुजाता सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम्।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः॥ १९॥

उत्तम कुल में उत्पन्न तथा वन को प्रस्थान करनेवाली सीता ने उन विचित्र और उत्तम आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत किया।

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य श्वश्रूर्वचनमब्रवीत्।
अनाचरन्तीं कृपणं मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम्॥ २०॥

तब कौसल्या ने उत्तम आचरणवाली सीता को हृदय से लगाया और उसका मस्तक सूँघ कर यह कहा—

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन्सततं सत्कृताः प्रियैः।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः॥ २१॥

जो स्त्रियाँ पति द्वारा सदैव सत्कृत और सम्मानित होने पर भी विपत्तिकाल में पति का आदर-सम्मान नहीं करतीं वे स्त्रियाँ असती=कुलटा कहलाती हैं।

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम्।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहात्यपि॥ २२॥

कुलटा स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि पति की सम्पन्न अवस्था में सुख भोग कर भी पति की विपन्नावस्था में उस पर दोष लगाती हैं और छोड़ भी देती हैं।

असत्यशीला विकृता दुर्ग्राह्यहृदयाः सदा।
युवत्यः पापसङ्कल्पाः क्षणमात्राद्विरागिणः॥ २३॥

कुलटा स्त्रियाँ असत्य बोलनेवाली तथा विकृत विचारवाली होती हैं। उनके मन की बात बड़ी कठिनाई से जानी जाती है, वे हृदय-शून्य होती हैं, वे अपने को सदा यौवन-सम्पन्न समझती हैं, उनके संकल्प पापपूर्ण होते हैं। वे क्षणमात्र में अपने पतियों को त्याग देती हैं।

न कुलं न कृतं विद्यां न दत्तं नापि संग्रहम्।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः॥ २४॥

प्रशस्त कुल, किया हुआ उपकार, धर्म-विद्या, वस्त्राभूषणों का दान और वैवाहिक बन्धन—कोई भी बात इन कुलटा स्त्रियों के मन को वश में नहीं कर सकती, क्योंकि ये चञ्चल हृदयवाली होती हैं।

साध्वीनां तु स्थितानां हि शीले सत्ये श्रुते शमे।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेकी विशिष्यते॥ २५॥

(कुलटा एवं असती स्त्रियों के लक्षण समझा कर अब कौसल्याजी सती-साध्वी स्त्रियों के लक्षण बताती हैं—)

सती-साध्वी एवं पतिव्रता स्त्रियाँ कुलोचित आचरणवाली, सत्य में आस्था रखनेवाली, वेद के अनुसार आचरण करनेवाली और शान्तचित्त-वाली होती हैं। ऐसी स्त्रियों के लिए उनका पति ही उनका सर्वस्व होता है।

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो मम।
तव दैवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा॥ २६॥

अतः वनवास के लिए उद्यत तू मेरे पुत्र राम का कभी अपमान मत करना, क्योंकि चाहे वह धनी है अथवा निर्धन तेरे लिए तो वह देवता के समान ही पूज्य एवं मान्य है।

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम्।
कृताञ्जलिरुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिता॥ २७॥

तब सीताजी अपनी सास के इन धर्म और अर्थयुक्त वचनों को सुन कौसल्या के समक्ष हाथ जोड़कर बोलीं—

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुशास्ति माम्।
अभिज्ञाऽस्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे॥ २८॥

हे आर्ये! आपने मुझे जो उपदेश दिया है मैं तदनुसार ही आचरण करूँगी। पति के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए यह मैं जानती हूँ, क्योंकि मैं माता-पिता के मुख से यह सब सुन चुकी हूँ।

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति।
धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा॥ २९॥

हे आर्ये! आप असती स्त्रियों के साथ मेरी तुलना

न करें। जैसे चन्द्रमा की ज्योत्स्ना चन्द्रमा से पृथक् नहीं हो सकती उसी प्रकार मैं भी धर्म से कभी विचलित नहीं हो सकती।

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो वर्तते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा॥ ३०॥

जैसे बिना तार के वीणा नहीं बजती, बिना पहिये का रथ नहीं चलता उसी प्रकार बिना पति के स्त्री भी सुख नहीं पाती चाहे वह सौ पुत्रोंवाली ही क्यों न हो।

मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥ ३१॥

पिता, माता तथा पुत्र—ये सब परिमित सुख के देनेवाले हैं, परन्तु पति अमित सुख का देनेवाला है, अतः ऐसी कौन अभागी स्त्री होगी जो पति का आदर-सम्मान न करेगी?

साऽहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरा वरा।
आर्ये किमवमन्येहं स्त्रीणां भर्ता हि दैवतम्॥ ३२॥

मैंने धर्म के मर्म को जाननेवाले श्रेष्ठ लोगों से पतिव्रत धर्म का रहस्य जाना है। यह जानकर कि पति ही स्त्री का सबसे बड़ा देवता है मैं पति का अनादर कैसे कर सकती हूँ?

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम्।
शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम्॥ ३३॥

सीता के हृदयस्पर्शी मनोहर वचनों को सुनकर शुद्धान्तःकरण कौसल्या जो राम के वनगमन से दुःखी हो आँसू गिरा रही थीं, सहसा हर्षित हो उठीं।

तां प्राञ्जलिरभिक्रम्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम्।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत्॥ ३४॥

तदनन्तर सब माताओं में सर्वश्रेष्ठा एवं सम्मानिता माता कौसल्या की परिक्रमा कर परम धर्मात्मा श्रीराम ने हाथ जोड़कर कहा—

अम्ब मा दुःखिता भूस्त्वं पश्य त्वं पितरं मम।
सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च॥ ३५॥

हे माता! मेरे वनवास से दुःखित होकर तुम व्यथित हृदय से कभी पिताजी को दुःखी मत करना, क्योंकि वनवास के ये चौदह वर्ष ऐसे कट जायेंगे जैसे सोने में एक रात कट जाती है।

◀ त्रयस्त्रिंशः सर्गः ▶ (३३)

वन की ओर प्रस्थान—

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम्॥ १॥

तत्पश्चात् दीन-दुःखी राम, लक्ष्मण और सीता ने महाराज दशरथ को चरण स्पर्शपूर्वक प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की।

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सीतया सह।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत्॥ २॥

शोक से सन्तप्त श्रीराम ने पिताजी से आज्ञा ले सीता सहित अपनी माता कौसल्या को प्रणाम किया।

अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत्।
अथ मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः॥ ३॥

श्रीराम के प्रणाम कर चुकने पर लक्ष्मण ने कौसल्या को प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने अपनी माता सुमित्रा के चरण छुए।

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत्।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥ ४॥

लक्ष्मण को प्रणाम करते हुए देख माता सुमित्रा रोते हुए बोली—पुत्र! तुम वनवासी राम की सेवा-शुश्रूषा में प्रमाद मत करना।

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥ ५॥

हे निष्पाप लक्ष्मण! ये विपत्ति में हों या सम्पत्ति में तुम्हारे आश्रय-दाता ये ही हैं। संसार में सज्जनों

का यही धर्म है कि वे अपने बड़ों की आज्ञानुसार चलें।

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम्।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च॥ ६॥

इस रघुकुल का सनातन और उचित सदाचार है—दान देना, व्रतचर्या का पालन करना, यज्ञ करना और संग्राम में शरीर त्याग करना।

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वा सा संसिद्धं प्रियराघवम्।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तम्॥ ७॥

श्रीराम के स्नेह-भाजन लक्ष्मण को वनगमन के लिए उद्यत देख सुमित्राजी उसे बार-बार कहने लगीं—जाओ! पुत्र, जाओ।

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्[१] ॥ ८॥

हे वत्स! (यदि वन में माता, पिता और अयोध्या का स्मरण आये तो) श्रीराम को तुम अपना पिता दशरथ समझना और सीता को मेरे समान अपनी माता समझना तथा वन को ही अयोध्या समझना। तुम सुखपूर्वक प्रस्थान करो।

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः॥ ९॥

तब सुमन्त्र हाथ जोड़कर श्रीराम से बोले—हे महायशस्वी रामचन्द्र! आपका कल्याण हो। आप रथ पर सवार हों।

तं रथं सूर्यसङ्काशं सीता हृष्टेन चेतसा।
आरुरोह वरारोहा कृत्वालङ्कारमात्मनः॥ १०॥

तब सुमुखी, प्रसन्न-चित्त एवं वस्त्राभूणों से अलंकृत सीता सूर्य के समान देदीप्यमान रथ पर आरूढ़ हो गई।

अथो ज्वलनसङ्काशं चामीकरविभूषितम्।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ ११॥

तदनन्तर श्रीराम और लक्ष्मण भी उस सुवर्ण-विभूषित और आयुधों से सुसज्जित रथ पर सवार हुए।

सीतातृतीयानारूढान् दृष्ट्वा धृष्टमचोदयत्।
सुमन्त्रः सम्मतानश्वान् वायुवेगसमाञ्जवे॥ १२॥

सुमन्त्र ने सीता-सहित राम, लक्ष्मण को रथ में बैठे देख वायु के समान वेगवान् श्रेष्ठ अश्वों से युक्त रथ को सावधानी के साथ आगे बढ़ाया।

प्रतियाते महारण्यं चिररात्राय राघवे।
बभूव नगरे मूर्छा बलमूर्छा जनस्य च॥ १३॥

श्रीराम के वनवासी होने पर सभी व्याकुल हो उठे, हाथी पागल हो गये, घोड़े हिनहिनाने लगे और सम्पूर्ण अयोध्या नगरी शब्दायमान हो उठी।

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्ता सलिलं यथा॥ १४॥

अयोध्या के सभी बालक और बूढ़े व्याकुल हो श्रीराम के रथ के पीछे वैसे ही दौड़ने लगे जैसे धूप से सन्तप्त व्यक्ति पानी की ओर दौड़ता है।

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुभृश निःस्वनाः॥ १५॥

कोई तो रथ के अगल-बगल और कोई रथ के पीछे श्रीराम को देखने के लिए ऊपर को मुँह उठाये चले जाते थे। सबके मुख अश्रुओं से पूर्ण थे और वे चिल्ला-चिल्ला कर सुमन्त्र से कह रहे थे—

संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैः शनैः।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति॥ १६॥

हे सूत! घोड़ों की रास कड़ी करो और रथ को

---

१. गोस्वामी तुलसीदास के मुख से इस श्लोक का अर्थ इस चौपाई में मुखरित हो उठा है—

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥

धीरे-धीरे चलाओ। हमें राम का दर्शन कर लेने दो, क्योंकि फिर हमारे लिए इनका दर्शन दुर्लभ हो जायेगा।

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन् गृहात्॥ १७॥

उधर राजभवन में दीन-दुःखी महाराज दशरथ शोक से विकल रानियों के सहित यह कहते हुए पैदी ही निकल पड़े कि "मैं अपने पुत्र को देखूँगा।"

रामो याहीति सूतं तं निष्ठेति स जनस्तदा।
उभयं नाशकत्सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः॥ १८॥

इधर राम तो रथ शीघ्र हाँकने को कहते और उधर प्रजाजन कहते हैं कि रथ धीरे-धीरे चलाओ। ऐसी स्थिति में सुमन्त्र न तो रथ को तीव्र गति से चला सकते और न मार्ग में खड़ा ही कर सकते थे।

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम्॥ १९॥

श्रीराम के रथ के पीछे महाराज दशरथ को महादुःखपूर्ण अवस्था में पैदल ही आते देखकर राम के रथ के पीछे चलनेवाले लोग हाहाकार करने लगे।

अन्वीक्षमाणो रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम्।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि॥ २०॥

लोगों का रोना और चिल्लाना सुन राम पीछे की ओर मुड़े तो उन्होंने देखा कि अत्यन्त दुःखी और भ्रान्तचित्त महाराज दशरथ एवं माता कौसल्या उनके पीछे पैदी ही चली आ रही हैं।

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ।
दृष्ट्वा सञ्चोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम्॥ २१॥

सदा सवारी पर चलनेवाले, जिन्होंने कभी सुख को छोड़ दुःख जाना ही नहीं, उन्हें रथ के पीछे पैदल चलते देख श्रीराम ने सुमन्त्र से रथ को शीघ्र हाँकने के लिए कहा।

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा॥ २२॥

इधर तो महाराज दशरथ सुमन्त्र से कहते थे 'ठहरो-ठहरो,' उधर श्रीराम कहते थे 'जल्दी चलो, जल्दी चलो'। उस समय सुमन्त्र की वही दशा हुई जो दो चक्रों के बीच में आये मनुष्य की होती है। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये कि किसकी आज्ञा का पालन करें।

नाश्रौषमिति राजानमुपलब्धोऽपि वक्ष्यसि।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत्॥ २३॥

श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा—जब तुम लौटकर आओगे और महाराज पूछें कि तुमने रथ क्यों नहीं ठहराया तो कह देना कि अत्यन्त कोलाहल के कारण मैंने आपकी बात सुनी नहीं, क्योंकि इस समय जो दुःख हो रहा है वह यहाँ ठहरने से और भी अधिक होगा।

रामस्य च वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम्।
व्रजतोऽपि हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः॥ २४॥

तब श्रीराम की आज्ञा पा और नगर निवासियों को वापस लौटने के लिए कह सुमन्त्र ने चलते हुए घोड़ों को और शीघ्र हाँकने का प्रयत्न किया।

न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
मनसाप्यश्रुवेगैश्च न न्यवर्तत मानुषम्॥ २५॥

जब रथ शीघ्रता से चला तो राजा के कर्मचारी एवं सम्बन्धी तो मन से श्रीराम की प्रदक्षिणा करके शरीर से लौट आये, परन्तु मन से नहीं। पुरवासी जन मन से भी नहीं लौटै, इसीलिए उनका अश्रुवेग भी नहीं थमा।

यमिच्छेत्पुनरायान्तं नैनं दूरमनुव्रजेत्।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः॥ २६॥

"जिसका शीघ्र पुनरागमन चाहे उसे पहुँचाने के लिए दूर तक नहीं जाना चाहिए"—मन्त्रियों ने इस प्रकार की बात महाराज से कही।

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नं
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः॥ २७॥

पसीने से तर, खिन्न-चित्त, सर्वगुण-सम्पन्न महाराज दशरथ मन्त्रियों की बात सुन रामचन्द्र की ओर टकटकी लगाये कौसल्या के साथ वहीं खड़े हो गये।

◀ चतुस्त्रिंशः सर्गः ▶ (३४)

दशरथ का विलाप—

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत् सञ्जहारात्मचक्षुषी॥ १॥

जब तक श्रीराम के रथ के पहियों से उड़ती हुई धूल दिखाई देती रही तब तक महाराज दशरथ ने अपने मन और नेत्रों को उधर से नहीं हटाया।

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः।
तदाऽऽर्तश्च विषण्णश्च पपात धरणीतले॥ २॥

परन्तु जब रथ के पहियों से उड़ती हुई धूल भी अदृश्य हो गई तब महाराज आर्त और विषाद-पूर्ण होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

अथ रेणुसमुद्ध्वस्तं तमुत्थाप्य नराधिपम्।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्षिता॥ ३॥

तब धूल-धूसरित महाराज दशरथ को उठाकर शोक से पीड़ित कौसल्या वहाँ से लौट पड़ी।

राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा।
विललाप च दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन्॥ ४॥

उस समय महाराज दशरथ ऐसे कान्तिहीन हो गये जैसे ग्रहण के समय सूर्य कान्तिरहित हो जाता है। वे पुत्र का स्मरण कर दुःखी होकर विलाप करने लगे।

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन् मनुजाधिपः।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम्॥ ५॥

विलाप करते-करते महाराज का गला भर आया। तब उन्होंने अति क्षीण स्वर में दीन भाव से मृदु और अल्पार्थवाची ये वचन कहे—

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम्।
न ह्यन्यत्र मयाश्वासो हृदयस्य भविष्यति॥ ६॥

मुझे शीघ्र राममाता कौसल्या के घर में पहुँचा दो, क्योंकि मेरे हृदय को और कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी।

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन्द्वारदर्शिनः।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत्॥ ७॥

महाराज दशरथ के ऐसा कहने पर द्वारपालों ने उन्हें महारानी कौसल्या के घर में ले जाकर पलंग पर लिटा दिया।

ततस्तस्य प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम्।
अधिरुह्यापि शयनं बभूवं लुलितं मनः॥ ८॥

कौसल्या के घर में पहुँचने और पलंग पर शयन करने पर भी महाराज दशरथ का मन अशान्त ही रहा।

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां कालरात्र्यामिवात्मनः।
अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत्॥ ९॥

अपने लिए कालरात्रि के समान आई हुई उस अर्द्धरात्रि में महाराज दशरथ ने कौसल्या से कहा—

न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते॥ १०॥

हे देवि कौसल्ये! मैं तुमको देख नहीं पा रहा हूँ, क्योंकि श्रीराम-दर्शन के लिए उनके पीछे गई मेरी दृष्टि भी तक नहीं लौटी है, अतः तुम मुझे अपने हाथों से स्पर्श करो।

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम्।
उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिःश्वसन्ती विललाप कृच्छ्रम्॥ ११॥

राम की ही चिन्ता करते हुए पलंग पर लेटे हुए महाराज दशरथ को देखकर महारानी कौसल्या बहुत दुःखी हुईं। वे उनके पलंग के समीप बैठ गईं और

अत्यन्त दुःखी हो लम्बे-लम्बे श्वास लेकर विलाप करने लगीं।

◀ पञ्चत्रिंशः सर्गः ▶ (३५)

नागरिकों की प्रार्थना—

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः॥ १॥

सत्यपराक्रमी महात्मा राम में अनुरक्त होने के कारण पुरवासी सभी लोग वनवासी राम के पीछे हो लिये।

निवर्तितेऽपि च बलात्सुहृद्धर्मेण राजनि।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम्॥ २॥

सुहृद्धर्म (जिसको शीघ्र बुलाना अभीष्ट हो उसे पहुँचाने दूर तक न जाये) के अनुसार महाराज दशरथ को तो बलपूर्वक लौटा दिया गया, परन्तु जो पुरवासी श्रीराम के रथ के पीछे जा रहे थे वे नहीं लौटे।

य याच्यमानः काकुत्स्थः स्वाभिः प्रकृतिभिस्तदा।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत॥ ३॥

वे सब लोग श्रीराम से अयोध्या लौट चलने की बार-बार प्रार्थना कर रहे थे, परन्तु श्रीराम अपने पिता को सत्यवादी सिद्ध करने के लिए वन की ओर ही चले जाते थे।

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव।
उवाच रामः स्नेहेन ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव॥ ४॥

वे लोग श्रीराम को उत्कण्ठापूर्वक उसी प्रकार देखते थे जैसे प्यासा जल को देखता है। प्रजाजनों का अपने में ऐसा दृढ़ अनुराग देख श्रीराम स्नेहपूर्वक उन लोगों से वैसे ही बोले जैसे पिता अपने पुत्रों से बोलता है।

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा निवेश्यताम्॥ ५॥

हे अयोध्यावासियो! आप लोगों का जो प्रेम और सम्मान मेरे प्रति है, मेरी प्रसन्नता के लिए इससे भी अधिक प्रेम और सम्मान आप लोग भरत के लिए प्रदर्शित करें।

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः।
करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च॥ ६॥

कैकेयी के आनन्द को बढ़ानेवाले भरत चरित्रवान् हैं। वे अवश्य ही आपके लिए यथोचित, हितकर और प्रिय कार्य करेंगे।

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः॥ ७॥

वे अल्पवय होने पर भी ज्ञानवृद्ध, कोमलचित्त और पराक्रमी हैं। वे सब प्रकार से आपके राजा होने योग्य हैं। वे तुम लोगों की हर प्रकार से रक्षा करेंगे।

यथा यथा दाशरथिर्धर्म एव स्थितोऽभवत्।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन्॥ ८॥

उस समय जैसे-जैसे राम पितृवचन पालनरूपी धर्म में दृढ़ता प्रदर्शित करते थे। वैसे-वैसे पुरवासी श्रीराम को ही अपना राजा बनाने की कामना प्रकट करते थे।

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा।
वयः प्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः॥ ९॥

उन लोगों में वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध—तीन प्रकार के ब्राह्मण थे। इनमें से वयोवृद्धता के कारण जिनके सिर हिल रहे थे वे दूर से ही ये वचन बोले—

वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरङ्गमाः।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि॥ १०॥

हे वेगवान् एवं उत्तम जाति के घोड़ो! तुम वापस लौटो। यदि तुम अपने स्वामी राम का हित चाहते हो तो आगे मत बढ़ो।

एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान्।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह॥ ११॥

इस प्रकार दुःखपूर्वक विलाप करनेवाले ब्राह्मणों को देखकर श्रीराम सहसा रथ से नीचे उतर गये।

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः।
सन्निकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः॥ १२॥

सीता और लक्ष्मण सहित श्रीराम पैदल ही वन की ओर चलने लगे और जब तक वे लोग राम के समीप नहीं पहुँच गये तब तक ये तीनों धीरे-धीरे चलते रहे।

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं संभ्रान्तचेतसः।
ऊचुः परमसन्तप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः॥ १३॥

जब ब्राह्मणों ने देखा कि प्रार्थना करने पर भी श्रीराम लौटते नहीं, अपितु वन की ओर ले ही जाते हैं तब वे अत्यन्त विकल और शोक से सन्तप्त हो श्रीराम से बोले—

ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत्त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति।
द्विजस्कन्धाधिरूढास्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्यमी॥ १४॥

हे राम! तुम ब्राह्मणों के हितकारी हो, इसलिए यह अखिल ब्राह्मण-समूह भी आपके पीछे आ रहा है और वे अपने कन्धे पर अग्निदेव (अग्निहोत्र का सामान अरणि आदि) को भी साथ-साथ ला रहे हैं।

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी॥ १५॥

हे वत्स! हमारा मन अभी तक केवल वेद के स्वाध्याय की ओर लगा रहता था, किन्तु अब उस ओर न लग आपकी वनयात्रा की ओर लगा हुआ है, अर्थात् तुम्हारे पीछे हमने स्वाध्याय भी छोड़ दिया है। (तुम घर का क्या प्रबन्ध करके आये हो, तुम्हारी स्त्रियाँ कैसे रहेंगी—इस शंका का समाधान करते हुए वे कहते हैं—)

हृदयेष्वेव तिष्ठन्ति वेदा ये नः परं धनम्।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः॥ १६॥

हमारा परम धन जो है वह तो हमारे हृदय में है, अर्थात् हमें चोरी का कोई भय नहीं है। हमारी स्त्रियाँ अपने पातिव्रत्य धर्म से अपनी रक्षा करती हुई घरों में रहेंगी।

न पुनर्निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद्धर्ममपेक्षितुम्॥ १७॥

हमें अब और किसी बात का निश्चय नहीं करना है। हमने तो आपके साथ चलने का दृढ़ निश्चय कर लिया है, परन्तु जब तुम हमारी आज्ञा का उल्लंघन कर धर्म की उपेक्षा करोगे तब धर्ममार्ग का अनुसरण कौन करेगा?

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः॥ १८॥

हे अटल आचरणवाले राम! हंस के समान श्वेत केशोंवाले हम वृद्ध ब्राह्मण आपको साष्टाङ्ग प्रणाम करके प्रार्थना करते हैं कि तुम वन को मत जाओ।

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने॥ १९॥

इन ब्राह्मणों में कुछ ऐसे भी हैं जो आरम्भ किये हुए यज्ञों को अधूरा छोड़कर आये हैं। हे वत्स! उन यज्ञों की समाप्ति आपके लौटने पर ही निर्भर करती है। (यदि आप न लौटे तो यज्ञों में विघ्न डालने का दोष आपको ही प्राप्त होगा।)

भक्तिमन्ति हि भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च।
याचमानेषु राम त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय॥ २०॥

केवल हम ही नहीं, अपितु पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भी आपसे प्रार्थना कर रहे हैं कि तुम वापस लौट चलो, अतः आप अपने भक्तों के प्रति प्रेम का परिचय दो।

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम्॥ २१॥

इस प्रकार श्रीराम को लौटाने के लिए चिल्लाते हुए उन ब्राह्मणों को तमसा नदी दिखाई पड़ी जो मानो मार्ग रोककर श्रीराम को आगे बढ़ने से रोक रही थी।

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद्विमुच्य
श्रान्तान्हयान्सम्परिवर्त्य शीघ्रम्।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्ग—
नचारयद्वै तमसाविदूरे॥ २२॥

तमसा के तीर पर पहुँच कर सुमन्त्र ने थके हुए घोड़ों को रथ से खोल दिया और उनकी थकावट मिटाने के लिए उन्हें भूमि पर लिटाया, फिर उन्हें पानी मिला और स्नान करा कर तमसा के तट के समीप चराने लगे।

◀ षट्त्रिंशः सर्गः ▶ (३६)

नागरिकों को भुलावा—

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

तमसा नदी के तट पर ठहरकर सीता की ओर देखते हुए श्रीराम लक्ष्मणजी से कहने लगे—

इयमद्य निशापूर्वा सौमित्रे प्रस्थिता वनम्।
वनवासस्य भद्रं ते स नोत्कण्ठितुमर्हसि॥ २॥

हे लक्ष्मण! हमारी वनयात्रा की यह प्रथम रात्रि है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम अयोध्या नगर के लिए उत्कण्ठित मत होना।

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम्।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः॥ ३॥

आज मेरे पूज्य पिता की राजधानी अयोध्या नगरी के स्त्री-पुरुष वनवास में आये हुए हम लोगों के लिए शोक कर रहे होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम्।
अपि वाऽन्धौ भवेतां तु रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः॥ ४॥

मुझे अपने पिता और यशस्विनी माता कौसल्या की बड़ी चिन्ता है। कहीं वे हम लोगों के लिए रोते-रोते अन्धे न हो जाएँ।

भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः।
नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण॥ ५॥

हे महाबाहो लक्ष्मण! जब मैं भरत के दयालु स्वभाव का बार-बार चिन्तन करता हूँ तब माता-पिता की ओर से निश्चिन्त हो जाता हूँ।

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम्।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणमर्थे सहायता॥ ६॥

हे नरकेसरी! वनवास में मेरे साथ आकर तुमने बहुत उत्तम कार्य किया है। यदि तुम न आते तो सीता की रक्षा के मुझे कोई अन्य सहायक ढूँढ़ना पड़ता।

अद्भिरेव तु सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्।
एतद्धि रोचते मह्य वन्येऽपि विविधे सति॥ ७॥

हे लक्ष्मण! यद्यपि वन में अनेक प्रकार के कन्दमूल-फल विद्यमान हैं तथापि मेरी इच्छा है कि आज की रात्रि केवल जल पीकर व्यतीत की जाये।

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह॥ ८॥

लक्ष्मण से ऐसा कहकर श्रीराम सुमन्त्र से बोले— हे सौम्य! तुम भी सावधानी से घोड़ी की देख-भाल करो।

सोऽश्वान् सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते।
प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः॥ ९॥

सूर्यास्त होने पर सुमन्त्र ने घोड़ों को बाँध दिया और उन्हें यथेष्ट घास आदि डालकर अन्य कामों में लग गये।

उपास्य तु शिवां सन्ध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपस्थिताम्।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह॥ १०॥

सायंकालीन सन्ध्या का समय उपस्थित होने पर उन लोगों ने सन्ध्या की, फिर रात्रि आई हुई देख

सुमन्त्र ने लक्ष्मण की सहायता से श्रीराम के शयन के लिए शय्या का निर्माण किया।

तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैः कृताम्।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह॥ ११॥

तमसा नदी के तट पर वृक्षों के पत्तों से निर्मित उस शय्या को देख श्रीराम ने लक्ष्मण और सीता सहित उस शय्या पर लेटकर विश्राम किया।

सभार्यां सम्प्रसुप्तं तं भ्रातरं वीक्ष्य लक्ष्मणः।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान् गुणान्॥ १२॥

श्रीराम को सीता-सहित सोते देखकर लक्ष्मणजी उठे और सूत से श्रीराम के विविध गुणों का बखान करने लगे।

जाग्रतो ह्येव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः।
सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान्॥ १३॥

इस प्रकार सुमन्त्र के साथ श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुए तथा लक्ष्मण के जागते हुए वह रात्रि व्यतीत हुई और सूर्योदय हुआ।

उत्थाय तु महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम्॥ १४॥

श्रीराम (मध्य रात्रि में) उठ और उन प्रजाजनों को सोते देख शुभ लक्षणवाले लक्ष्मण से बोले—

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निरपेक्षान् गृहेष्वपि।
वृक्षमूलेषु संसुप्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम्॥ १५॥

हे लक्ष्मण! ये लोग घर-बार छोड़ हमारा पीछा कर रहे हैं। देखो तो, वृक्षों के नीचे पड़े हुए ये कैसे सो रहे हैं।

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मान्निवर्तने।
अपि प्राणा न सिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम्॥ १६॥

ये पुरवासी लोग हम लोगों को लौटाने का जो प्रयत्न कर रहे हैं उससे प्रतीत होता है कि ये लोग प्राण दे देंगे, परन्तु अपना निश्चय नहीं त्यागेंगे।

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु।
रथमारुह्य गच्छाम पन्थानमकुतोभयम्॥ १७॥

अतः जब तक ये लोग सो रहे हैं तब तक हम सब रथ पर आरूढ़ हो तुरन्त यहाँ से चल दें। मार्ग में कोई भय नहीं है।

अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम्।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति॥ १८॥

श्रीराम का कथन सुन लक्ष्मणजी ने धर्म-मूर्ति राम से कहा—हे प्राज्ञ! आपका विचार मुझे भी पसन्द है, अतः आप शीघ्र रथ पर सवार हो जाइए।

अथ रामोऽब्रवीच्छ्रीमान् सुमन्त्रं युज्यतां रथ।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो॥ १९॥

तदनन्तर श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा—हे प्रभो! शीघ्र रथ तैयार कीजिए, क्योंकि मैं यहाँ से शीघ्र ही वन में जाऊँगा।

सूतस्ततः सन्त्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः।
योजयित्वाऽथ रामाय प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत्॥ २०॥

श्रीराम की आज्ञा पा सुमन्त्र उत्तम घोड़ों को रथ में जोतकर ले-आये और हाथ जोड़कर निवेदन किया—

अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर।
त्वमारोहस्व भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः॥ २१॥

हे रथियों में श्रेष्ठ! रथ तैयार है। आप सीता और लक्ष्मण सहित इस पर आरूढ़ हों।

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमास्थाय सारथे॥ २२॥

पुरवासियों को भ्रम में डालने के लिए श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा—हे सारथे! पहले उत्तर की ओर रथ हाँको।

मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥ २३॥

शीघ्रतापूर्वक थोड़ी दूर उत्तर में जाकर, फिर रथ को लौटा लाओ। सावधानतापूर्वक इस प्रकार रथ हाँको जिससे पुरवासी यह न जान पायें कि हम किस ओर गये हैं।

रामस्य वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे स सारथिः।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्ययवेदयत्॥ २४॥

श्रीराम के वचन को सुन सुमन्त्र ने वैसा ही किया और रथ को लौटा कर श्रीराम के सामने खड़ा कर दिया।

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम्॥ २५॥

तब श्रीराम धनुष-कवच आदि सामान और साथियों के साथ रथ पर आरूढ़ हुए और भँवरोंवाली तथा वेग से बहनेवाली तमसा नदी को पार किया।

➤ सप्तत्रिंशः सर्गः ➤ (३७)

नगरवासियों का विलाप करते हुए अयोध्या लौटना—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनस्विनः॥ १॥

रात्रि के समाप्त होने पर प्रातःकाल जब पुरवासी जागे तक राम को न देख वे मनस्वी लोग दीन हो करुणायुक्त ये वचन बोले—

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम्॥ २॥

धिक्कार है हमारी उस निद्रा को जिससे अचेत होकर अब हम विशाल वक्षस्थलवाले महाबाहु श्रीराम को नहीं देख रहे हैं।

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान्।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः॥ ३॥

जो राम हम पुरवासियों को अपने औरस सन्तान की भाँति पालते थे वे रघुकुलश्रेष्ठ हमें छोड़कर वन में क्यों चले गये?

इहैव निधनो यामो महाप्रस्थानमेव वा।
रामेण रहितानां हि किमर्थं जीवितं हि नः॥ ४॥

या तो हम लोग यहीं प्राण दे देंगे अथवा हिमालय में जा गलकर मर जायेंगे, क्योंकि बिना राम के हमारे जीने का क्या प्रयोजन?

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च।
तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथ पावकम्॥ ५॥

यहाँ पर प्रचुर मात्रा में बड़ी-बड़ी सूखी लकड़ियाँ पड़ी हैं। इनकी विशाल चिता प्रज्ज्वलित कर हम लोग उसमें प्रविष्ट हो जायें।

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम्॥ ६॥

अयोध्या लौटकर हम लोगों से क्या कहेंगे। महाबाहु, ईर्ष्या-रहित और प्रियवादी राम को हम वन में छोड़ आये हैं—यह तथ्य हम कैसे कह सकेंगे?

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं जितात्मना।
रहितास्तेन च पुनः कथं पश्याम तां पुरीम्॥ ७॥

हम तो वीर एवं जितेन्द्रिय श्रीराम के साथ रहने के लिए घर से निकले थे। अब हम उनको वन में छोड़ क्या मुँह लेकर अयोध्या पुरी जायेंगे?

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किञ्चित्क्षणं पुनः।
मार्गनाशाद्विषादेन महता समभिप्लुताः॥ ८॥

वे लोग श्रीराम के जाने के मार्ग का अनुसरण कर कुछ दूर उत्तर की ओर गये, परन्तु जब उन्हें आगे गमन-मार्ग का कोई चिह्न न मिला तब वे अत्यन्त दुःखी हुए।

रथस्य मार्गनाशेन न्यवर्तन्त मनस्विनः।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनपोपहता इति॥ ९॥

जब रथ के आगे जाने का मार्ग न मिला तब वे मनस्वी लोग लौट आये और परस्पर कहने लगे—यह क्या हुआ? अब हम क्या करें? हमारा भाग्य ही खोटा है।

ततो यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः।
अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम्॥ १०॥

तब वे अयोध्यावासी अत्यधिक उदास होकर जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से अयोध्या लौट आये जहाँ सभी सज्जनवृन्द दुःखी हो रहे थे।

आलोक्य नगरीं तां च क्षयव्याकुलमानसाः।
आवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः॥ ११॥

अयोध्या नगरी की विपन्न अवस्था को देखकर व्याकुल चित्तवाले वे अयोध्या-निवासी अत्यन्त शोकाकुल होकर आँखों से आँसू बहाने लगे।

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्।
अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः॥ १२॥

चन्द्रमा से रहित आकाश अथवा जल विहीन समुद्र की भाँति आनन्दहीन उस अयोध्या नगरी को देखकर वे लोग खिन्न हो गये।

➤ अष्टात्रिंशः सर्गः ➤ (३८)

गुह से भेंट—

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन्॥ १॥

उधर रात्रि व्यतीत होते-होते श्रीराम भी अपने पिताजी की आज्ञा का स्मरण करते हुए बहुत दूर निकल गये।

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद्रजनी शिवा।
उपास्य स शिवां सन्ध्यां विषयान्तं व्यगाहत॥ २॥

चलते-चलते कल्याणमयी रात्रि व्यतीत हो गई तब प्रातःकाल की मङ्गलमयी सन्ध्या-उपासना कर के वे, फिर चलने लगे और उत्तर कोसल की दक्षिण सीमा पर पहुँचे गये।

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम्।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम्॥ ३॥

तदनन्तर वे वेदश्रुति (बेसवा) नामक निर्मल जल से पूर्ण नदी को पार कर अगस्त्य नक्षत्र से सेवित दक्षिण दिशा की ओर चले।

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शिवजलां नदीम्।
गोमतीं गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम्॥ ४॥

फिर बहुत देर तक चलने के पश्चात् उन्होंने निर्मल शीतल जलवाली और सागर में जाकर मिलनेवाली तथा जिसके तट पर गोसमूह विचरण कर रहा था—उस गोमती नदी को पार किया।

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्॥ ५॥

गोमती नदी को पार कर श्रीराम ने अत्यन्त वेगवान् घोड़ों से युक्त रथ में बैठकर मयूर तथा हंसों से शब्दायमान स्यन्दिका=सई नदी को पार किया।

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा।
स्फीतां राष्ट्रवृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत्॥ ६॥

स्यन्दिका नदी पार कर श्रीराम ने सीताजी को वह भूमि दिखाई जो महाराज मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दी थी। वह बहुत विस्तृत थी और उस पर अनेक राष्ट्र बसे हुए थे।

ततो धान्यधनोपेतान् ब्रह्मघोषाभिनादितात्।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत॥ ७॥

तदनन्तर श्रीराम धन-धान्य से भरपूर, वेदध्वनि से गुंजायमान कोसल देश की सीमा से पार हुए।

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शिवतोयामशैवलाम्।
ददर्श राघवो गङ्गां पुण्यामृषिनिषेविताम्॥ ८॥

चलते-चलते श्रीराम ने कोसल राज्य की दक्षिण सीमा पर पवित्र, शीतल-जलयुक्त तथा शैवाल रहित, तीन पथों में बहनेवाली, ऋषियों से सेवित, दिव्य तथा रमणीय गङ्गा को देखा।

तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः।
सुमन्त्रमब्रवीत्सूतमिहैवाद्य वसामहे॥ ९॥

नाना प्रकार की लहरियों और तरङ्गों से युक्त उस गङ्गा को देखकर महारथी राम ने सुमन्त्र से कहा—हे सूत! आज हम यहीं निवास करेंगे।

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च वाढमित्येव राघवम्।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः॥ १०॥

श्रीराम के ये वचन सुन लक्ष्मण और सुमन्त्र ने कहा—''बहुत अच्छा'' और वे रथ को इंगुदी के वृक्ष के पास ले गये।

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः।
रथादवातरत्तस्मात्सभार्यः सहलक्ष्मणः॥ ११॥

इक्ष्वाकुनन्दन श्रीराम उस रमणीक वृक्ष के पास पहुँच, सीता और लक्ष्मण सहित रथ से उतर पड़े।

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा।
निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति[1] विश्रुतः॥ १२॥

वहाँ शृङ्गवेरपुर में श्रीराम का प्राणप्रिय मित्र निषाद जाति का गुह नामवाला राजा राज्य करता था। उसके पास चतुरङ्गिणी सेना थी।

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः॥ १३॥

उसने जब सुना कि श्रीराम उसके प्रदेश में आये हैं तो वह बूढ़े मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवों सहित श्रीराम के पास मिलने आया।

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम्।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः॥ १४॥

निषादराज गुह को देर से ही आते देखकर श्रीराम लक्ष्मण सहित कुछ दूर आगे जा उनसे मिले।

तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्।
यथाऽयोध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते॥ १५॥

श्रीराम को मुनि-वेश में देख अत्यन्त दुःखी निषादराज राम का आलिंगन कर उनसे बोला—

जैसी आपके लिए अयोध्या है वैसी ही इस नगरी को समझें और मुझे आज्ञा दें कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ।

ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम्।
ततो गुणवदन्नाद्यमुपादाय पृथग्विधम्॥ १६॥
अर्घ्यं चोपानयत्क्षिप्रं वाक्यं चेदमुवाच ह।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही॥ १७॥

आप जैसा माननीय और प्रिय अतिथि किसको प्राप्त होगा—ऐसा कहकर अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ और अर्घ्य आदि स्वागत-वस्तुओं को राम के समीप लाकर गुह बोला—हे महाबाहो! मैं आपका स्वागत करता हूँ। यह सम्पूर्ण पृथिवी आपकी ही है।

वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चेदमुपस्थितम्।
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते॥ १८॥

आप हमारे स्वामी और हम आपके सेवक हैं। आप इस सम्पूर्ण राज्य पर शासन कीजिए। ये भक्ष्य, भोज्य, पेय और लेह्य=चटनी आदि पदार्थ खाने के लिए तथा सोने के लिए उत्तम बिछौने और घोड़ों के लिए घास एवं दाना भी उपस्थित है।

गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह।
अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वथा वयम्॥ १९॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसन्दर्शनेन च।
भुजाभ्यां साधु पीनाभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत्॥ २०॥

गुह के ऐसा कहने पर श्रीराम ने कहा—आपने मेरे पास पैदल आकर जो इतना स्नेह प्रदर्शित किया उससे मेरा आदर-सम्मान हो गया। मैं आप पर बहुत

---

१. लोक में ऐसा प्रसिद्ध है कि गुह केवट=मल्लाह था, परन्तु उक्त श्लोक से यह बात मिथ्या सिद्ध होती है। गुह न नाविक था और न नाविकों का चौधरी, अपितु वह उनका राजा था। यह बात ''वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैः''—वह बूढ़े मन्त्रियों से घिरा हुआ था—इस कथन से भी पुष्ट होती है। गुह स्थपतिः—निषादों का राजा कहलाता था।

प्रसन्न हूँ, फिर मोटी और विशाल भुजाओं से गुह का आलिंगन करते हुए श्रीराम ने कहा—

दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च धनेषु च॥ २१ ॥

हे गुह! आपको बन्धु-बान्धवों सहित नीरोग देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आपके राष्ट्र में, मित्रों में तथा इस वन के भूभाग में कुशल तो है?

यदेतद्भवता किञ्चित्प्रीत्या समुपकल्पिताम्।
सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे॥ २२ ॥

मेरे लिए बड़े प्रेम से आप जो वस्तुएँ लाये हैं मैं उन सबको स्वीकार करता हूँ, परन्तु इन दान की वस्तुओं का मैं उपयोग नहीं करूँगा।

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशिनं च माम्।
विद्धि प्राणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्॥ २३ ॥

मैं तो कुशचीर और मृग-चर्म धारण करता हूँ तथा फल एवं कन्दमूल खाता हूँ। इस समय आप मुझे वनवासी तपस्वियों के धर्म में दीक्षित समझें।

अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्।
एतावताऽत्र भवता भविष्यामि सुपूजितः॥ २४॥

आपकी इन वस्तुओं में से मैं केवल घोड़ों के खाने की वस्तुओं को ही स्वीकार करूँगा, अन्य कोई वस्तु नहीं। केवल इतने ही से मैं आपके द्वारा अपने को सम्मानित समझूँगा।

अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात्।
गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति॥ २५॥

यह सुन गुह ने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि घोड़ों के खाने-पीने की सम्पूर्ण वस्तुएँ, इन्हें तुरन्त प्रदान करो।

ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्॥ २६ ॥

तदनन्तर वल्कल का दुपट्टा ओढ़े हुए श्रीराम ने सायंकाल की सन्ध्या समाप्त की। उस दिन लक्ष्मणजी द्वारा लाये गये जल को ही उन्होंने भोजन के रूप में स्वीकार किया।

तस्य भूमौ शयनास्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः॥ २७॥

जब श्रीराम और सीता इंगुदी के वृक्ष के नीचे भूमि पर लेट गये तब लक्ष्मण ने जल लाकर दोनों के पैर धोये और वही वृक्ष के समीप बैठ गये।

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत्ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः॥ २८ ॥

निषादराज गुह सुमन्त्र और लक्ष्मण के साथ बातचीत करता हुआ, धनुष-बाण लेकर राम की रक्षा में तत्पर रात्रिभर जागता रहा।

◀ एकोनचत्वारिंशः सर्गः ▶ (३९)

गुह और लक्ष्मण का वार्तालाप—

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम्।
गुहः सन्तापसन्तप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत्॥ १ ॥

लक्ष्मण से—जो भाई की रखवाली करते हुए बड़ी सावधानी से जाग रहे थे—गुह सन्तप्त होकर बोला—

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम्॥ २॥

हे लक्ष्मण! तुम्हारे सोने के लिए यह शय्या तैयार है। हे राजकुमार! आप इस पर सुखपूर्वक विश्राम करें।

उचितोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम्॥ ३॥

१. सोने से पूर्व पैर धोना आयुर्वेद की दृष्टि से लाभदायक है।

मैं हर प्रकार के क्लेश सहने का अभ्यासी हूँ और आपका जीवन सुख में व्यतीत हुआ है, अत: आप सो जाइए। हम लोग श्रीराम की रक्षा के लिए रात भर जागेंगे।

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन।
ब्रवीम्येतदहं सत्यं सत्येनैव च ते शपे॥ ४॥

(यदि आपको यह सन्देह हो कि आपके सोने के पश्चात् मैं भी सो जाऊँगा तो सुनो) इस संसर में श्रीराम से बढ़कर मेरा और कोई प्रिय पात्र नहीं है। मैं यह बात सत्य की शपथ खाकर सत्य ही कह रहा हूँ।

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणि: सर्वतो ज्ञातिभि: सह॥ ५॥

अत: मैं अपने बन्धु-बान्धवों सहित हाथ में धनुष बाण लेकर सीता सहित सोये हुए अपने प्रिय मित्र राम की हर प्रकार से रक्षा करूँगा।

लक्ष्मणस्तं तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयाऽनघ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता॥ ६॥

यह सुन लक्ष्मणजी ने गुह से कहा—हे पुण्य-आत्मन्! आपके संरक्षण में हमें किसी प्रकार का भय नहीं है, परन्तु मुझे अपने कर्त्तव्य-पालन का ध्यान है।

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥ ७॥

जब सीता सहित श्रीराम भूमि पर पड़े सो रहे हैं तब मेरा यह कर्त्तव्य नहीं कि मैं पड़कर सुख से सो जाऊँ अथवा अपने जीते रहने या अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रयत्न करूँ।

परिदेवयमानस्य दु:खार्तस्य महात्मन:।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत॥ ८॥

राजकुमार महात्मा लक्ष्मण ने दु:ख-पूरित हृदय से शोकाकुल होकर बैठे-बैठे ही सारी रात बिता दी।

➤ चत्वारिंश: सर्ग: ➤ (४०)

गङ्गा के पार—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशा:।
उवाच राम: सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम्॥ १॥

रात्रि व्यतीत होकर जब प्रभात हुआ तब विशाल वक्ष स्थलवाले महायशस्वी राम शुभ-लक्षणयुक्त लक्ष्मणजी से बोले—

भास्करोदयकालोऽयं गता भगवती निशा।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम्॥ २॥

देखो! भगवती रात्रि का अवसान हो गया। अब सूर्य उदय होना चाहते हैं, अत: हे सौम्य! सागरगामिनी अत्यन्त वेगवती इस गङ्गा को हम लोग पार करें।

विज्ञाय रामस्य वचो गुहो राघवमब्रवीत्।
उपस्थितेयं नौर्देव भूया किं करवाणि ते॥ ३॥

राम के अभिप्राय को जानकर गुह ने श्रीराम से निवेदन किया—देव! नौका तैयार है। आज्ञा कीजिए आपकी और क्या सेवा करूँ।

अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वच:।
कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति॥ ४॥

तब महातेजस्वी श्रीराम ने गुह से कहा—आप के द्वारा मैं सफल-मनोरथ हुआ। अब आप शीघ्रतापूर्वक हमारा सब सामान नौका पर रखवा दीजिए।

तत: कलापान् संनह्य खड्गौ: बद्ध्वा च धन्विनौ।
जग्मतुर्येन तौ गङ्गा सीतया सह राघवौ॥ ५॥

ऐसा कहकर दोनों भाई धनुष-बाण धारण कर और कवच से सुसज्जित होकर सीता सहित उस तट की ओर चले जहाँ नाव थी।

राममेवं तु धर्मज्ञमुपगम्य विनीतवत्।
किमहं करवाणीति सूत: प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ६॥

गङ्गा के तट पर पहुँचे हुए धर्मात्मा श्रीराम के

पास जाकर एवं नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर सुमन्त्र श्रीराम से बोले—हे कृपानिधान! अब मुझे क्या आज्ञा है?

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम्॥ ७॥

श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा—अब तुम यहाँ से लौट जाओ। मैंने यहाँ तक ही रथ स्वीकार किया था। अब हम रथ को छोड़कर पैदल ही महावन में प्रस्थान करेंगे।

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ ८॥

''तुम लौट जाओ'' अपने लिए इस आज्ञा को सुन सुमन्त्र अत्यन्त दुःखी हो नरकेसरी इक्ष्वाकुवंशीय श्रीराम से बोले—

न मन्ये ब्रह्मचर्येऽस्ति स्वधीते वा फलोदयः।
मार्दवार्जवयोर्वाऽपि त्वां चेद्व्यसनमागतम्॥ ९॥

यदि आप वनवास को कष्टमय समझ वन में न आते तो मैं आप लोगों के ब्रह्मचर्य-पालन, वेदाध्ययन, दयालुता और नम्रता को निष्फल ही समझता।

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन्।
त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव॥ १०॥

हे राघव! लक्ष्मण और सीता सहित वन में वास करने से आपकी संसार में वैसी ही कीर्ति होगी जैसी कि तीनों लोकों को जीतने से किसी की हो सकती है।

वयं खलु हता राम ये त्वयाप्युपवञ्चिताः।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः॥ ११॥

हे राम! आपके त्याग देने से हम लोगों का तो अब मरण ही है, क्योंकि हम अभागों को अब क्रूरकर्मा पापिनी कैकेयी के वश में रहना पड़ेगा।

इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तदा।
दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम्॥ १२॥

इस प्रकार अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल बोलते हुए सारथि सुमन्त्र श्रीराम का बहुत काल तक वन जाना निश्चित जान, दुःखी हो चिरकाल तक रोते रहे।

ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम्।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम्॥ १३॥

कुछ देर रोते रहने के पश्चात् जब सुमन्त्र आचमन करके पवित्र हुए तब श्रीराम ने मधुर वाणी से सुमन्त्र से कहा—

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये।
यथा दशरथो राजा मां न शोचयेत्तथा कुरु॥ १४॥

हे तात! मन्त्रियों में तुमसे बढ़कर इक्ष्वाकुवंश का शुभ-चिन्तक मुझे कोई दूसरा दिखाई नहीं देता, अतः आप ऐसा उपाय करें जिससे पिताजी मेरे गमन के लिए दुःखी न हों।

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्।
ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः॥ १५॥

जिन्होंने आज तक कभी दुःख नहीं देखा, जो आर्य=श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय और वृद्ध हैं ऐसे पूज्य पिताजी के चरणों में मेरी ओर से प्रणाम कर उन्हें यह कहना—

नैवाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च मैथिली।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्सामहेति च॥ १६॥

मुझे, लक्ष्मण और सीता को न अयोध्या छूटने का शोक है और न वनवासी होने का ही कोई दुःख है।

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसि क्षिप्रमागतान्॥ १७॥

चौदह वर्ष का वनवास समाप्त करने पर आप लक्ष्मण और सीता सहित मुझे शीघ्र ही, फिर अयोध्या में आया हुआ देखेंगे।

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः॥ १८॥

हे सुमन्त्र! महाराज से यह कहकर मेरी माता कौसल्या, अन्य देवियों और माता कैकेयी से भी ये बातें बार-बार कह देना।

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम्।
सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य च॥ १९॥

माता कौसल्या से चरणस्पर्श-पूर्वक मेरी, सीता और लक्ष्मण की कुशलक्षेम और आरोग्यता कहना।

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः शोककर्शितः।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात्काकुत्स्थमब्रवीत्॥ २०॥

इस प्रकार समझा-बुझा कर जब श्रीराम ने सुमन्त्र को लौटाना चाहा तब सुमन्त्र उनकी बातें सुन, स्नेहवश श्रीराम से बोले—

कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम्।
तव तावद्वियोगेन पुत्रशोकाकुलामिव॥ २१॥

हे राम! जो अयोध्या नगरी आपके वियोग से पुत्र-वियोग के समान व्याकुल हो रही है, उस नगरी में मैं आपके बिना लौट कर कैसे जाऊँगा?

दैन्यं हि नगरी गच्छेद् दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम्।
सूतावशेषं स्व सैन्यं हतवीरमिवाहवे॥ २२॥

इस शून्य रथ को देखकर सम्पूर्ण अयोध्या नगरी इस प्रकार दीनता को प्राप्त हो जायेगी जिस प्रकार संग्राम में महारथी के मर जाने पर सूतावशेष रथ को देखकर सेना की होती है।

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया।
नीतोऽसौ मातुलकुलं सन्तापं मा कृथा इति॥ २३॥

अयोध्या में जाकर मैं देवी कौसल्या से क्या कहूँगा? क्या मैं यह कहूँ कि मैं तुम्हारे पुत्र को मामा के घर पहुँचा आया हूँ, अब आप शोक न करें।

तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि॥ २४॥

हे अनघ! मैं आपके बिना अयोध्या नहीं लौटूँगा। आप मुझे भी अपने साथ वन में चलने की आज्ञा प्रदान कीजिए।

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इह त्वया॥ २५॥

यदि इतना गिड़गिड़ाने पर भी आप मेरा त्याग ही करेंगे तो आपके द्वारा परित्यक्त मैं रथ सहित अग्नि में प्रविष्ट हो, भस्म हो जाऊँगा।

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्यं भवितुं प्रत्यनन्तरः।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः॥ २६॥

आप प्रसन्न हों और मुझे अपना अनुचर बनाकर अपने साथ ले चलें। आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे कह दें—हे सुमन्त्र! तुम मेरे साथ वन को चलो।

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः॥ २७॥

मेरी यह परम अभिलाषा है कि वनवास की समाप्ति पर मैं इसी रथ में बैठाकर आपको अयोध्यापुरी में ले चलूँ।

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत्॥ २८॥

सुमन्त्र के इस प्रकार दीनतापूर्वक बार-बार प्रार्थना करने पर भृत्यवत्सल श्रीराम सुमन्त्र से बोले—

जानामि परमां भक्तिं मयि ते भर्तृवत्सल।
श्रृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः॥ २९॥

हे स्वामिभक्त सुमन्त्र! अपने प्रति तुम्हारे अनुराग को मैं भली-भाँति जानता हूँ, परन्तु मैं जिस कारणवश तुम्हें अयोध्या भेज रहा हूँ, उसे सुनो।

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः॥ ३०॥

तुम्हारे अयोध्या लौटने पर तुम्हें देखकर मेरी मझली माता कैकेयी को यह विश्वास हो जायेगा कि राम वन को चला गया।

परितुष्टा हि सा देवी वनवासं गते मयि।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम्॥ ३१॥

मेरे वनगमन का विश्वास होने पर वह सन्तुष्ट हो जायेगी और पूज्य पिताजी के धार्मिक और सत्यवादी होने में भी उसे कोई शंका नहीं रहेगी।

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सरथस्त्वं पुरीं व्रज।
सन्दिष्टश्चासि यानार्थांस्तांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा॥ ३२॥

हे सुमन्त्र! मेरी तथा महाराज दशरथ की प्रसन्नता के लिए तुम अयोध्यापुरी लौट जाओ और मैंने जो-

जो सन्देश जिस-जिसके लिए दिये हैं वे सब उस-उसके पास ज्यों-के-त्यों पहुँचा दो।

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः।
गुहं वचनमक्लीबो रामो हेतुमदब्रवीत्॥ ३३॥

सुमन्त्र को इस प्रकार बारम्बार समझा-बुझा और सान्त्वना प्रदान कर श्रीराम गुह से ये उत्साहवर्द्धक एवं युक्तियुक्त वचन बोले—

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने।
अवश्यं ह्याश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः॥ ३४॥

हे निषाद! अब मेरे लिए ऐसे वन में जहाँ आत्मीयजन रहते हों, रहना उपयुक्त नहीं। अब हम कहीं पर्णकुटी बना कर उसमें वास करेंगे। (यह गुह की उस बात का उत्तर है जो उसने अपने राज्य का शासन करने और वहीं रहने के लिए श्रीराम से कही थी।)

जटा कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत्॥ ३५॥

मैं जटाधारण कर वन में प्रवेश करूँगा, इसलिए हे गुह! तुम बरगद का दूध ले आओ। यह सुन गुह तुरन्त ही बरगद का दूध ले आया।

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारत्॥ ३६॥

श्रीराम ने उस बरगद के दूध से अपनी और लक्ष्मण की जटा बनाई। महाबाहु एवं पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण जटा रखकर तपस्वी बन गये।

तौ तदा चीरवसनौ जटामण्डलधारिणौ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ ३७॥

उस समय चीर-वसन तथा जटामण्डल धारण करनेवाले वे दोनों भाई ऋषियों की भाँति सुशोभित हुए।

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणाः।
व्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीत्॥ ३८॥

तदनन्तर श्रीराम और लक्ष्मण वानप्रस्थ मार्ग का अवलम्बन और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का धारण कर अपने सहायक निषादराज से बोले—

अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम्॥ ३९॥

हे गुह! तुम सेना, कोश, दुर्ग और राष्ट्र की रक्षा में सदा सावधान रहना, क्योंकि मेरी सम्मति में राज्य का संचालन और रक्षण बहुत कठिन कार्य है।

ततस्तं समनुज्ञाय गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः॥ ४०॥

इस प्रकार गुह को समझाकर इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीराम निश्चिन्त होकर फुर्ति से सीता और लक्ष्मण के साथ घाट की ओर चल दिये।

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः।
तित्तीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं लक्ष्मणमब्रवीत्॥ ४१॥

गंगा नदी के तट पर नाव को उपस्थित देख श्रीराम ने वेगवती गङ्गा को पार उतरने की इच्छा से लक्ष्मणजी से कहा—

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः।
सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम्॥ ४२॥

हे नरकेसरी! सामने उपस्थित नौका पर मनस्विनी सीता को चढ़ाकर तुम भी इस पर सवार हो जाओ।

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन्।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः॥ ४३॥

भाई की ऐसी आज्ञा पा तदनुसार ही लक्ष्मण ने पहले सीताजी को नाव पर चढ़ाया और फिर स्वयं भी आरूढ़ हुए।

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनचोदयत्॥ ४४॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीराम स्वयं भी नाव पर चढ़े। सबके नाव पर सवार हो जाने के पश्चात् गुह ने अपने बन्धुओं को नाव चलाने की आज्ञा दी।

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः।
ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः॥ ४५॥

महातेजस्वी राम ने नाव पर बैठ ब्राह्मण और क्षत्रियों के सदृश अपने कल्याण के लिए नावारोहण

सम्बन्धी वेद-मन्त्रों[१] का जप किया।

ततस्तैश्चोदिता सा नौः कर्णधारसमाहिता।
शुभस्फ्यवेगाभिहता शीघ्रं सलिलमत्यगात्॥ ४६॥

कुशल नाविक द्वारा सञ्चालित वह नौका वेगवान् पतवार और डाँडों के जोर से शीघ्रतापूर्वक जल में चलने लगी।

तीरं तु दक्षिणं प्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परन्तपः॥ ४७॥

शत्रु-मर्दन पुरुषोत्तम श्रीराम ने दक्षिण तट पर पहुँच कर नाव को छोड़ दिया तथा अपने भाई लक्ष्मण और सीता के साथ वहाँ से आगे के लिए प्रस्थान किया।

अथाब्रवीन् महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम्।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा॥ ४८॥

चलते हुए, श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा—देखो! जन रहित स्थान हो या जन सहित, तुम सीता की रक्षा में सदा सावधान रहना।

अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां च पालयन्॥ ४९॥

हे लक्ष्मण! तुम तो आगे चलो और तुम्हारे पीछे सीता चले। तुम्हारे दोनों के पीछे तुम्हारी रक्षा करता हुआ मैं चलूँगा।

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः॥ ५०॥

श्रीराम के ये वचन सुन लक्ष्मण आगे, उनके पीछे सीता और सीता के पीछे श्रीराम चले।

स लोकपालप्रतिमप्रभावस्
तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम्।
ततः समृद्धाञ्शुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान् मुदितानुपागमत्॥ ५१॥

लोकपालों के समान अमित प्रभाववाले तथा वर देनेवाले महात्मा राम उस महानदी=गङ्गा को पार करके थोड़ी ही देर में धन-धान्य से समृद्ध, रमणीय तथा प्रसन्न लोगों से परिपूर्ण वत्स देश में जा पहुँचे।

◀ एकचत्वारिंशः सर्गः ▶ (४१)

राम का विलाप—

वृक्षमेकमुपागम्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम्॥ १॥

लोकाभिराम श्रीराम विश्राम के लिए एक वृक्ष के नीचे जा टिके। वहाँ अपनी सायंकालीन सन्ध्या से निवृत्त होकर वे लक्ष्मणजी से बोले—

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति॥ २॥

हे लक्ष्मण! निश्चय ही आज पिताजी दुःख की नींद सोयेंगे और सफल-मनोरथ कैकेयी आज प्रसन्न होगी।

---

१. नौका में बैठते समय निम्न मन्त्र का जाप किया जाता है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्त्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

—ऋ० १०।६३।९

महर्षि दयानन्द ने 'संस्कार-विधि' विवाह-प्रकरण में एक अन्य मन्त्र दिया है। निम्न मन्त्र को बोलकर नौका में बैठना चाहिए—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।

और नौका से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

—ऋ० १०।५३।८

अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता।
कौसल्यां च सुमित्रां च सम्प्रबाधेत मत्कृते॥ ३॥

मुझे डर है कि कहीं सौभाग्यमद से गर्वित कैकेयी मेरे कारण माता कौसल्या और सुमित्रा को सताती न हो।

मा स्म मत्कारणाद्देवी सुमित्रा दुःखमावसेत्।
अयोध्यामित एव त्वं काल्ये प्रविश लक्ष्मण॥ ४॥

मेरे कारण कौसल्या एवं सुमित्रा कष्ट न भोगने पावें, अतः हे लक्ष्मण! तुम कल ही अयोध्या पहुँच जाओ।

विलप्योपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम्।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः॥ ५॥

जब विलाप कर श्रीराम ज्वाला रहित अग्नि और वेग रहित समुद्र के समान शान्त हो गये तब लक्ष्मणजी उन्हें समझाने लगे—

नैतदौपायिकं राम यदिदं परितप्यसे।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ॥ ६॥

हे राम! आपको इस प्रकार सन्तप्त होना उचित नहीं, क्योंकि आपके दुःखी होने से मुझे और सीताजी को भी दुःख होता है।

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥ ७॥

हे राम! मैं और सीता आपके बिना एक क्षण भी उसी प्रकर जीवित नहीं रह सकते जिस प्रकार जल से निकली हुई मछली एक क्षण भर भी नहीं जी सकती।

न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं वाऽपि त्वया विना॥ ८॥

हे शत्रुओं का मान मर्दन करनेवाले! मैं आपके विना न तो अपने पिता को, न अपने सहोदर शत्रुघ्न को और न अपनी जननी माता सुमित्रा को ही देखना चाहता हूँ। यही नहीं मुझे तो आपके बिना स्वर्ग जाने की भी इच्छा नहीं है।

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात्।
समाः समस्ता विदधे परन्तपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः॥ ९॥

इस प्रकार लक्ष्मण की उपदेशपूर्ण उत्तम बातों को आदरपूर्वक सुनकर शत्रुहन्ता राम ने वानप्रस्थाश्रमोचित नियमों का पालन करते हुए चौदह वर्ष तक वन में रहने का निश्चय किया।

➤ द्विचत्वारिंशः सर्गः ➤ (४२)

भरद्वाज के आश्रम में—

ते तु तस्मिन्महावृक्षे उषित्वा रजनीं शिवाम्।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद्देशात्प्रतस्थिरे॥ १॥

वे तीनों उस सुन्दर रात्रि को महावट वृक्ष के नीचे बिताकर प्रातःकाल विमल भुवनभास्कर के उदय होने पर वहाँ से आगे चल दिये।

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाऽभिप्रवर्तते।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम्॥ २॥

जिस स्थान पर भागीरथी गङ्गा और यमुना का सङ्गम होता था, उस स्थान को अपना लक्ष्य बनाकर वे महावन में होकर चले जाते थे।

यथा क्षेमेण सम्पश्यन् पुष्पितान् विविधान्द्रुमान्।
निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत्॥ ३॥

मार्ग में सुखपूर्वक उठते-बैठते तथा फल-फूलों से परिपूर्ण वनों की शोभा निहारते हुए वे चले जाते थे। जब थोड़ा दिन शेष रहा तब श्रीराम ने लक्ष्मणजी से कहा—

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुद्गतम्।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये सन्निहितो मुनिः[१]॥ ४॥

---

१. किसी संस्कृत कवि ने इस प्रसङ्ग का चित्रण यूँ किया

हे लक्ष्मण! देखो, प्रयाग के चारों ओर जो धुआँ उठ रहा है वह मानो भगवान् अग्निदेव की पताका फहरा रही है। इससे प्रतीत होता है कि महर्षि भरद्वाज का आश्रम यहीं कहीं पास ही है।

नूनं प्राप्ताःस्म संभेदं गङ्गायमुनयोर्वयम्।
तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोर्वारिघर्षजः॥ ५॥

निश्चय ही हम लोग गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर पहुँच गये हैं, क्योंकि दोनों नदियों के परस्पर संघर्षण का शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ रहा है।

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे।
गङ्गायमुनयोः सन्धौ प्रापुर्निलयं मुनेः॥ ६॥

इस प्रकार सुखपूर्वक चलते हुए एवं परस्पर वार्तालाप करते हुए वे दोनों धनुर्धारी भाई सूर्य के अस्त होते-होते गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर स्थित महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे।

हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागं कृताञ्जलिः।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीताया चाभ्यवादयत्॥ ७॥

महाभाग महर्षि भरद्वाज को जो अभी-अभी अग्निहोत्र समाप्त करके चुके थे, देखकर श्रीराम ने लक्ष्मण और सीता सहित उन्हें हाथ जोड़ कर प्रणाम किया।

पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ।
भार्या ममेयं वैदेही कल्याणी जनकात्मजा॥ ८॥

अपना परिचय देते हुए राम ने कहा—भगवन्! हम दोनों राम और लक्ष्मण महाराज दशरथ के पुत्र हैं औ यह कल्याणी सीता मेरी धर्मपत्नी और राजा जनक की पुत्री है।

पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्।
धर्ममेव चरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः॥ ९॥

भगवन्! हम लोग पिताजी की आज्ञानुसार तपोवन में प्रवेश करेंगे और फल-मूल खाते हुए धर्म का आचरण करेंगे।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥ १०॥

बुद्धिमान् राजकुमार राम के इस वचन को सुनकर धर्मात्मा भरद्वाज उनके स्वागतार्थ चरण धोने के लिए जल, अर्घ्य=मुख धोने के लिए जल और मधुपर्क लाये।

नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्।
तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवान्वकल्पयत्॥ ११॥

महर्षि भरद्वाज ने उनके लिए नाना प्रकार के अन्न, रस तथा वन में उत्पन्न होनेवाले फल-फूल दिये और रहने के लिए स्थान आदि की व्यवस्था की।

प्रतिगृह्य च तामर्चामुपविष्टं स राघवम्।
भरद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा॥ १२॥

महर्षि के उस आतिथ्य को स्वीकार कर जब श्रीराम निवृत्त होकर बैठ गये तब महर्षि भरद्वाज

है—

किमयं दृश्यते तात धूमपुञ्जोऽयमग्रतः।
प्रयागो दृश्यते तात यजन्तेऽत्र महर्षयः॥

लक्ष्मणजी ने पूछा—हे भाई! ये जो सामने धूमपुञ्ज-सा उठ रहा है वह क्या है? यह सुन श्रीराम ने उत्तर दिया—भाई लक्ष्मण! यह प्रयाग है। यहाँ महर्षि लोग यज्ञ करते हैं। यह उसी का धुआँ है।

प्रयाग का नाम प्रयाग क्यों हुआ—**'प्रकृष्टेन यजते यस्मिन् स प्रयागः'**—जिसमें प्रकृष्टरूप से यज्ञ हो उसका नाम प्रयाग है।

किसी अन्य कवि ने एक अत्यन्त सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

यदि कदापि पुरा पतिताश्रवः
श्रुतिगता हि द्विजा न च वाऽन्यथा।
परमियं वसुधाऽत्र विना क्रतुं
परिव्रताऽश्रुजलैरिति चित्रता॥

प्राचीनकाल में यदि किसी की आँखों से आँसू निकलते थे तो केवल यज्ञ के धुआँ से वेद के विद्वानों की आँखों से। अन्यथा प्रजा की आँखों से कभी आँसू निकलते ही नहीं थे। यह भारतवर्ष की विचित्रता थी।

उनसे ये धर्मयुक्त वचन बोले—

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्यामि त्वामिहागतम्।
श्रुतं तव मया चेदं विवासनमकारणम्॥ १३॥

हे काकुत्स्थ! बहुत दिनों के पश्चात् आज मैं पुनः तुम्हें इस आश्रम में आया हुआ देखता हूँ। आपके अकारण वनवास के विषय में भी मैंने सुन लिया है।

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम्॥ १४॥

महानदियों—गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर यह पवित्र, रम्य तथा एकान्त खुला स्थान है। आप यहाँ सुखपूर्वक वास करें।

एवमुक्तः स वचनं भरद्वाजेन राघवः।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः॥ १५॥

भरद्वाज के ऐसा कहने पर सब प्राणियों के हित में रत श्रीराम यह शुभ वाक्य बोले—

भगवन्नितः आसन्नः पौरजानपदो जनः।
सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम्॥ १६॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये॥ १७॥

भगवन्! यह वास-स्थान जनपद और पुरवासी लोगों को बहुत निकट पड़ेगा, अतः मुझे और सीताजी को देखने के लिए वे लोग सरलतापूर्वक यहाँ आ जाया करेंगे, इसलिए मुझे यहाँ रहना उचित नहीं जान पड़ता।

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा॥ १८॥

भगवन्! कोई ऐसा एकान्त और उत्तम स्थान आश्रम के लिए बताइए जहाँ सुख पाने योग्य सीताजी का मन लग सके।

एतत् श्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः।
राघवस्य ततो वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत्॥ १९॥

श्रीराम के इन वचनों को सुन महामुनि भरद्वाज उनसे यह अर्थपूर्ण वचन बोले—

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि।
महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः॥ २०॥

हे वत्स! यहाँ से दस कोस पर महर्षियों से सेवित, चारों ओर नयनाभिराम दृश्यों से युक्त, पवित्र पर्वत है, वहाँ पर तुम सुखपूर्वक निवास कर सकोगे।

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः।
प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः॥ २१॥

प्रयाग में महर्षि के पास में आये हुए राम से अनेक प्रकार की विचित्र और मनोहर कथा-वार्ता होते हुए पुण्यमयी रात्रि आ गई।

सीता तृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम्॥ २२॥

सुख से रहने योग्य राम, लक्ष्मण एवं सीता ने मार्ग चलने से परिश्रान्त होकर वह रात्रि महर्षि भरद्वाज के रम्य आश्रम में सुखपूर्वक व्यतीत की।

➤ त्रिचत्वारिंशः सर्गः ➤ (४३)

यमुना के पार—

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिन्दमौ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति॥ १॥

शत्रुओं का दमन करनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण महर्षि भरद्वाज के आश्रम में एक रात्रि बिताकर, प्रातःकाल होते ही महर्षि को प्रणाम कर चित्रकूट पर्वत की ओर प्रस्थानित हुए।

तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः य चकार ह।
प्रस्थितांश्चैव तान् प्रेक्ष्य पिता पुत्रानिवान्वगात्॥ २॥

महर्षि भरद्वाज ने उनके लिए स्वस्त्ययन=वेद मन्त्रों का पाठ किया। उनको वहाँ से प्रस्थित हुआ देख महर्षि कुछ दूर उनके पीछे-पीछे गये जिस प्रकार

पिता अपने योग्य पुत्रों के पीछे जाता है।

अथ पन्थानमावेद्य महर्षिः संन्यवर्तत।
उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ ३॥

कुछ दूर उनके साथ जा और उन्हें मार्ग बता महर्षि लौट आये। जब भरद्वाज लौट गये तब श्रीराम ने लक्ष्मणजी से कहा—

कृतपुण्याः स्म सौमित्रे मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते।
इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ॥ ४॥
सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम्।
अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्त्रोतोवहां नदीम्॥ ५॥
चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजलतितीर्षवः।
तौ काष्ठसङ्घाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्॥ ६॥

हे लक्ष्मण! हम लोग बड़े पुण्यात्मा हैं तभी तो मुनिवर भरद्वाज हमारे ऊपर इतनी अनुकम्पा कर रहे हैं। मनस्वी एवं नरकेसरी दोनों राजकुमार इस प्रकार वार्तालाप करते हुए सीताजी को आगे करके यमुना नदी के पास पहुँचे। अत्यन्त वेगवाली उस यमुना नदी के पास पहुँच कर वे सब सोचने लगे कि इस नदी को किस प्रकार पार किया जाए। सोच-विचार के पश्चात् दोनों भाइयों ने बहुत सारी लकड़ियाँ एकत्र कर एक बेड़ा तैयार किया।

आरोप्य सीतां प्रथमं सङ्घाटं परिगृह्य तौ।
ततः प्रतरेतुर्यत्तौ वीरौ दशरथात्मजौ॥ ७॥

सीताजी को उस बेड़े पर बैठाकर राम और लक्ष्मण उस बेड़े को पकड़ कर उसे प्रसन्नतापूर्वक तैराने लगे।

ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात्।
श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम्॥ ८॥

यमुना को पार कर और उस बेड़े को वहीं छोड़ वे यमुना तट के वन से प्रस्थान करते हुए श्यामवर्ण, हरे-हरे पत्तोंवाले तथा शीतल छाया से युक्त एक वट वृक्ष के नीचे पहुँचे।

विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते
शुभे वने वारणवानरायुते।
समं नदीवप्रमुपेत्य सम्मतं
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः॥ ९॥

दोनों भाइयों ने सीता सहित उस मनोहर वन में जो मयूरों के शब्दों से निनादित तथा हाथी और वानरों से युक्त था, विहार कर नदी तट पर एक सुन्दर, समतल स्थान पर जो सीताजी को भी पसन्द था—निर्भय होकर वास किया।

❮ चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ❯ (४४)

चित्रकूट में निवास—

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम्।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुनन्दनः॥ १॥

रात्रि व्यतीत होने पर श्रीराम ने स्वयं जागकर कुछ-कुछ सोये हुए भाई लक्ष्मण को धीरे-धीरे जगाया[१]।

सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम्।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परन्तप॥ २॥

हे लक्ष्मण! देखो, ये वन के तोता, मैना, कोयल आदि पक्षी कैसे मधुर स्वर से चहक रहे हैं। हे परन्तप!

---

१. लोक में ऐसी भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि लक्ष्मणजी वनवास के चौदह वर्षों में न तो सोये ही थे और न ही वे कोई आहार लेते थे। उक्त श्लोक से लक्ष्मणजी के न सोने के प्रवाद का खण्डन हो जाता है। जब वे सोते ही नहीं थे तो राम ने उन्हें जगाया कैसे? इस श्लोक के अनुवाद में तिलक टीकाकार लिखते हैं—

एतेन चतुर्दशवर्षपर्यन्तं लक्ष्मणः स्वापहीनोऽनाहारश्चेति लोकप्रवादोऽपास्तः।

मार्ग चलने के लिए यही उत्तम समय है, अतः हमें यहाँ से चल देना चाहिए।

स सुप्तः समये भ्रात्रा लक्ष्मणः प्रतिबोधितः।
जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च पथि श्रमम्॥ ३॥

जब श्रीराम ने सोये हुए लक्ष्मणजी को जगाया तब उन्होंने निद्रा, आलस्य और मार्ग चलने की थकावट को त्याग दिया।

ततः उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा नद्याः शिवं जलम्।
पन्थानमृषिणाऽऽदिष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः॥ ४॥

तदनन्तर वे सब उठकर तथा यमुना के पवित्र जल में स्नान करके ऋषि के बताये हुए मार्ग से चित्रकूट की ओर चल दिये।

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम्॥ ५॥

इस प्रकार सीता को साथ लिये हुए परस्पर वार्तालाप करते हुए एवं पैदल चलते हुए वे मनोरम एवं रम्य चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे।

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः।
बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः प्रतिभाति मे॥ ६॥

(उस पर्वत पर पहुँच कर श्रीराम ने लक्ष्मणजी से कहा—) हे सौम्य! यह पर्वत कैसा मनोहर है! यह अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त तथा अनेक प्रकार के फल एवं मूलों से परिपूर्ण होने के कारण कैसा रमणीक दीख पड़ता है। हम लोगों का निर्वाह यहाँ सरलतापूर्वक हो जायेगा।

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये।
अयं वासो भवेत्तावदत्र सौम्य रमेमहि॥ ७॥

इस उन्नत पर्वत पर महात्मा और मुनि लोग भी निवास करते हैं। यह स्थान वास करने योग्य है, अतः हे सौम्य! हम लोग यहीं पर आनन्दपूर्वक रहेंगे।

इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्॥ ८॥

ऐसा निश्चय कर श्रीराम, लक्ष्मण और सीता—तीनों ने महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जा, उन्हें हाथ जोड़कर प्रमाण किया।

तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित्।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तु निवेद्य च॥ ९॥

धर्मज्ञ महर्षि वाल्मीकि ने प्रसन्न होकर उनका सत्कार किया और "आपका स्वागत हो"—ऐसा कहकर बैठने के लिए आसन दिया।

सन्निवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये प्रभुः।
ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः॥ १०॥

श्रीराम महर्षि वाल्मीकि को अपना यथोचित परिचय दे और वनवास का कारण बतला लक्ष्मणजी से बोले—

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः॥ ११॥

हे लक्ष्मण! तुम उत्तम एवं दृढ़ काष्ठों को एकत्र कर यहाँ वास के लिए एक पर्णकुटी बनाओ, क्योंकि हे सौम्य! यहाँ बसने की मेरी हार्दिक इच्छा है।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान्।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिन्दमः॥ १२॥

यह सुन शत्रु-मर्दन लक्ष्मणजी विविध प्रकार के काष्ठ ले आये और उनसे एक पर्णशाला निर्मित की।

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम्।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम्॥ १३॥

जिस प्रकार देवगण सुधर्मा नामक सभा में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार राम-लक्ष्मण और सीता ने एक साथ वृक्षों के पत्तों से आच्छादित, उचित स्थान पर निर्मित, मनोहर एवं वायुरहित पर्णशाला में रहने के लिए प्रवेश किया।

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द रामो मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात्॥ १४॥

सुन्दर एवं रमणीक चित्रकूट पर्वत पर पहुँच कर

तथा मृगों और पक्षियों से युक्त स्वच्छ, मधुर जलवाली प्रसिद्ध माल्यवती नदी को प्राप्त करके श्रीराम ऐसे आनन्दित हुए कि अयोध्या के प्रवास के दुःख को भूल गये।

(**विशेष**—यहाँ तक महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम के अयोध्या से चित्रकूट तक की यात्रा का वर्णन किया है। अगले सर्ग से राम-वियोग में अयोध्या में घटित घटनाओं का आरम्भ होता है। स्मरण रहे श्रीराम अयोध्या से चित्रकूट पाँच दिन में पहुँचे थे। तीन दिन उन्होंने केवल जल पीकर निर्वाह किया, चौथे दिन से कन्दमूल-फल आदि का सेवन प्रारम्भ किया।)

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः (४५)

सुमन्त्र की वापसी—

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान्।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः॥ १॥

श्रीराम से आज्ञा पा सुमन्त्र उत्तम घोड़ों को रथ में जोतकर, अत्यन्त उदास हो अयोध्या नगरी की ओर चल दिये।

ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह॥ २॥

शृङ्गवेर पुर से प्रस्थानित होकर दूसरे दिन सायंकाल सुमन्त्र आनन्द रहित अयोध्या नगरी में पहुँचे।

सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सहस्रशः।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन्नराः॥ ३॥

सुमन्त्र को नगर में आया देख सैकड़ों, सहस्त्रों नागरिक सुमन्त्र की ओर दौड़ पड़े और उससे पूछने लगे—श्रीराम कहाँ हैं?

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम्।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना॥ ४॥

सुमन्त्र ने उन्हें बताया कि गङ्गा के तट पर पहुँच कर जब धार्मिक महात्मा राम ने मुझे लौटने की आज्ञा दी तब मैं यहाँ आया हूँ।

ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा जनाः।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति च चुक्रुशुः॥ ५॥

श्रीराम को गङ्गा पार उतरा जानकर अश्रुपूर्ण मुख अयोध्यावासी 'अहो धिक्कार' ऐसा कहते हुए दीर्घ श्वास लेते हुए 'हा राम! हा राम!' कहकर विलाप करने लगे।

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम्।
हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम्॥ ६॥

स्थान-स्थान पर टोलियों में खड़े हुए लोगों को सुमन्त्र ने यह कहते हुए सुना—हा! हम लोग तो मारे गये जो इस रथ में श्रीराम को नहीं देख रहे हैं।

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम्॥ ७॥

राजमार्ग में इस प्रकार का विलाप सुन सुमन्त्र ने अपना मुँह ढक लिया और वे बड़ी शीघ्रता से महाराज दशरथ के देवोपम भवन की ओर चले।

अभिगम्य तमासीनं नरेन्द्रमभिवाद्य च।
सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत्॥ ८॥

महाराज के पास पहुँच कर सुमन्त्र ने उन्हें प्रणाम किया और श्रीराम ने जो सन्देश दिया था उसे ज्यों-का-त्यों महाराज से निवदेन कर दिया।

स तूष्णीमेव तत् श्रुत्वा राजा विभ्रान्तचेतनः।
मूर्च्छितो न्यपतद् भूमौ रामशोकाभिपीडितः॥ ९॥

महाराज ने इन बातों को शान्तिपूर्वक सुना। तदनन्तर पुत्र-वियोग शोक से व्याकुल होने के कारण

वे मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े।[1]

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम्।
उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत्॥ १०॥

सुमित्रा की सहायता से महारानी कौसल्या ने भूमि पर पड़े हुए महाराज को उठाया और उनसे बोली—

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे॥ ११॥

हे महाभाग! दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीराम के इस दूत से, जो वन से लौटे हैं, आप वार्तालाप क्यों नहीं करते?

अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव।
उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता॥ १२॥

हे राघव! राम के वनवासरूपी अन्याय को करके अब आप लज्जित क्यों होते हैं। उठो, उठो, आपका कल्याण हो। अब इस शोक से कोई लाभ नहीं।

देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम्।
नेह तिष्ठति कैकेयी विस्रब्धं प्रतिभाष्यताम्॥ १३॥

हे देव! जिसके भय से आप सुमन्त्र से राम-विषयक वार्तालाप नहीं कर रहे हो, वह कैकेयी यहाँ नहीं है, अत: आप नि:शंक होकर बातचीत करें।

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा।
धरण्यां निपताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी॥ १४॥

महाराज से ऐसा कहकर शोकाकुल कौसल्या का कण्ठ भर आया और वे मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ीं।

◀ षट्चत्वारिंशः सर्गः ▶ (४६)

दशरथ-विलाप—

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात्प्रत्यागतः पुनः।
अथाजुहाव तं सूतमुवाच परमार्तवत्॥ १॥

कुछ देर पश्चात् जब महाराज उपचार द्वारा सचेत हुए तब उन्होंने सूत को बुलाकर अत्यन्त दीन एवं दु:खी होकर कहा—

सूत यद्यस्ति ते किञ्चिन् मया तु सुकृतं कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः सन्त्वरयन्ति माम्॥ २॥

हे सूत! यदि मैंने तुम्हारा लेशमात्र भी उपकार किया हो तो तुम मुझे शीघ्र राम के पास पहुँचा दो, क्योंकि मेरे प्राण शरीर से निकलने के लिए शीघ्रता कर रहे हैं।

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम्।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम्॥ ३॥

अथवा यदि अब भी श्रीराम मेरी आज्ञा मान वन से लौट सकें तो तुम जाकर उन्हें लौटा लाओ, क्योंकि राम के बिना मैं एक मुहूर्त भी जी नहीं सकता।

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम्।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम्॥ ४॥

हा! इससे भी अधिक क्या कोई दु:ख की बात होगी कि मैं मरते समय भी इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीराम को नहीं देख सकता।

हा राम रामानुज हा हा वैदेही तपस्विनि।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत्॥ ५॥

हा राम! हा लक्ष्मण! हा तपस्विनी सीता! तुम

1. किसी कवि ने इस घटना का वर्णन इन शब्दों में किया है—

शून्यः प्राप्तो यदि रथो भग्नो मम मनोरथः।
नूनं दशरथं नेतुं कालेन प्रेषितो रथः॥

मन्त्रिप्रवर! रथ में राम हैं? यदि रथ राम से खाली है तो निश्चय ही काल ने इसे मुझे लेने के लिए भेजा है।

नहीं जानते कि मैं अनाथ के समान अत्यन्त कष्ट से मर रहा हूँ।

इति विलपति पार्थिवे प्रनष्टे
करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः।
वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत्पुनरेव राममाता॥ ६॥

महाराज दशरथ जब राम के लिए अत्यन्त करुणापूर्ण विलाप करते-करते मूर्छित हो गये तब राममाता महारानी कौसल्या देवी को उनके ऐसे वचन सुन दुगुणा भय हुआ—कौसल्या भयभीत हुई कि कहीं महाराज के प्राण-पखेरु न उड़ जाएँ।

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः।
धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या सूतमब्रवीत्॥ ७॥

तदनन्तर रोगग्रस्त के समान भूमि पर निर्जीव-सी पड़ी हुई एवं काँपती हुई कौसल्या सुमन्त्र से बोली—

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः।
तान् विना क्षणमप्यत्र जीवितुं नोत्सहे ह्यहम्॥ ८॥

हे सूत! जहाँ राम, लक्ष्मण और सीता हैं तुम मुझे भी वहीं ले चलो, क्योंकि उनके विना मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती।

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान्नय मामपि।
अथ तान्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम्॥ ९॥

रथ को वापस लौटाओ और मुझे भी दण्डक वन में पहुँचा दो। यदि मैं उनके पास न पहुँच सकी तो यमालय=श्मशान में पहुँच जाऊँगी, अर्थात् मर जाऊँगी।

बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया।
इदमाश्वासयन् देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ १०॥

यह सुन सुमन्त्र विकल हो तथा हाथ जोड़कर, गला रुँध जाने के कारण स्खलित वाणी से कौसल्या देवी को सान्त्वना देते हुए बोले—

न शोच्यास्ते न चात्मानः शोच्यो नापि जनाधिपः।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम्॥ ११॥

हे देवि! तुम राम, लक्ष्मण एवं सीता के लिए, अपने लिए और महाराज के लिए तनिक भी चिन्ता मत करो। पिता की आज्ञा मानकर वन जाने का श्रीराम का आदर्श-चरित चिरकाल तक संसार में प्रतिष्ठित रहेगा।

◀ सप्तचत्वारिंशः सर्गः ▶ (४७)

कौसल्या का उपालम्भ और दशरथ का उन्हें प्रसन्न करना—

वनं गते धर्मरते रामे रमयतां वरे।
कौसल्या रुदती स्वार्ता भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥

प्रियतम धर्मनिष्ठ राम के वन-गमन के कारण विकल हो रुदन करती हुई कौसल्या अपने पति महाराज दशरथ को उपालम्भ देते हुए बोली—

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद्यशः।
सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः॥ २॥

तीनों लोकों में आपकी यह कीर्ति फैली हुई है कि महाराज बड़े दयालु, उदार और प्रियवादी हैं।

त्वया त्वकरुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने॥ ३॥

परन्तु आपने राम आदि मेरे प्रियजनों को राज्य से निर्वासित कर बड़ा निर्दयता-पूर्ण कार्य किया है। जो सुख से रहने योग्य थे वे दीन होकर वन में मारे-मारे फिर रहे हैं।

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रदृष्टः सनातनः।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते॥ ४॥

यदि तुम द्विजों द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त सनातन धर्म को मानते तो क्या ऐसे धर्म-निरत पुत्र को कभी देश-निकाला दे सकते थे?

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नेह विद्यते॥ ५॥

हे महाराज! नारी के लिए प्रथम आश्रय पति, दूसरा पुत्र और तीसरा सहारा निकट सम्बन्धियों का होता है। स्त्री के लिए चौथा कोई सहारा नहीं है।

तत्र त्वं चैव मे नास्ति रामश्च वनमाश्रितः।
न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा निहता त्वया॥ ६॥

इन आश्रयों में आप तो मेरे हैं ही नहीं, दूसरे सहारे राम को आपने वन में भेज दिया। आपको छोड़कर मैं वन में भी नहीं जा सकती, अतः आपने मेरा सर्वनाश ही कर दिया।

हतं त्वया राज्यमिदं सराष्ट्रं
हतस्तथाऽऽत्मा सह मन्त्रिभिश्च।
हता सपुत्राऽस्मि हताश्च पौराः
सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ॥ ७॥

आपने राम को वन भेजकर अनेक छोटे राज्यों सहित इस विशाल राज्य का, मन्त्रियों सहित अपना, पुत्र सहित मेरा और समस्त अयोध्यावासियों का सत्यानाश कर दिया। आपके इस कार्य से केवल दो ही प्रसन्न हैं—आपकी पत्नी कैकेयी और आपका पुत्र भरत।

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया।
श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः॥ ८॥

इस प्रकार शोकसन्तप्त तथा क्रुद्ध कौसल्या के उक्त कठोर वचनों को सुनकर महाराज दुःखी होकर सोचने लगे—

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात्कर्म दुष्कृतम्।
यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना॥ ९॥

सोचते-सोचते उन्हें अपना एक पूर्वकृत[१] पाप-कर्म स्मरण हो आया जिसे शब्दवेधी बाण चलाननेवाले दशरथ ने पहले कभी अज्ञान-वश कर डाला था।

विमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामन्वतप्यत॥ १०॥

उस शोक से तथा राम के वियोग से महाराज उदास हो गये। दोनों शोकों से महाराज सन्तप्त एवं विकल हो गये।

दह्यमानः स शोकाभ्यां कौसल्यामाह भूपतिः।
वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः॥ ११॥

इन दोनों शोकों से दग्ध और दुःखित महाराज दशरथ काँपते हुए हाथ जोड़कर तथा मुख नीचा करके कौसल्या को प्रसन्न करने के लिए उससे बोले—

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि॥ १२॥

हे कौसल्या! मैं हाथ जोड़ कर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ। तुम प्रसन्न हो जाओ, क्योंकि तुम तो दयालु हो और विरोधियों के साथ भी प्रेम करती हो, फिर अपनों के साथ तो कहना ही क्या?

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान् निर्गुणोऽपि वा।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम्॥ १३॥

हे देवि! यह तो तुम जानती ही हो कि धर्म का आचरण करनेवाली स्त्री के लिए उसका पति ही—चाहे वह गुणवान् हो या निर्गुण—प्रत्यक्ष देवता होता है।

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम्॥ १४॥

सदा धर्माचरण में तत्पर और संसार की भलाई-बुराई तथा ऊँच-नीच को समझनेवाली तुम्हें शोक-सन्तप्त होने पर भी मुझ दुःखी से ऐसे अप्रिय वचन कहना उचित नहीं।

तद्वाक्यं करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम्।
कौसल्या व्यसृजद् बाष्पं प्रणालीव नवोदकम्॥ १५॥

दुःखी महाराज के करुणापूर्ण वचनों को सुनकर

१. इसका विस्तार सहित वर्णन अगले सर्ग में है।

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे॥ ४॥

जो व्यक्ति पलाश=ढाक के लाल-लाल पुष्पों को देखकर फल पाने की अभिलाषा से आम के पेड़ों को कटवा कर पलाश वृक्ष को सींचता है, फल लगने के समय फल न पाकर उसे निश्चय ही पछताना पड़ता है।

सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम्।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः॥ ५॥

हे देवि! मैंने भी आम के वृक्ष को काटकर पलाश के वृक्ष को सींचा है। अब फलागमन काल में श्रीराम को त्याग कर मुझ दुष्टमति को पछताना पड़ रहा है।

लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम्॥ ६॥

हे कौसल्ये! अपनी कुमारावस्था में अपने को शब्दवेधी कहला कर प्रसिद्ध होने की कामना से धनुष धारण कर मैंने वह पाप किया था।

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयं कृतम्।
सम्मोहादिह बालेन यथा स्याद्भक्षितं विषम्॥ ७॥

हे देवि! वही स्वयं किया हुआ मेरा पाप दुःख के रूप में मुझे इस प्रकार प्राप्त हो रहा है जिस प्रकार अज्ञानवश बालक विष खाकर कष्ट सहता है।

देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम्।
ततः प्रावृडनुप्राप्ता मम कामविवर्धिनी॥ ८॥

देवि! यह उस समय की बात है जब तुम्हारे साथ मेरा विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराज था। उन्हीं दिनों एक बार काम के वेग को उत्तेजित करनेवाली वर्षा ऋतु आई।

तस्मिन्नतिसुख काले धनुष्मान् कवची रथी।
व्यायामकृतसङ्कल्पः सरयूमन्वगां नदीम्॥ ९॥

उस अत्यन्त सुखद समय में मैं शिकार खेलने की इच्छा से कवच धारण कर, धनुष हाथ में ले, रथ पर बैठकर सरयू नदी के तट पर गया।

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाऽभ्यागतं नदीम्।
अन्यं वा श्वापदं कञ्चिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः॥ १०॥

रात्रि में जल पीने के लिए नदी के घाट पर आनेवाले वन भैंसे, हाथी अथवा अन्य किसी बनैल पशु को मारने का इच्छुक मैं उस समय इन्द्रियों के अधीन हो गया था।

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः॥ ११॥

इसी बीच अन्धकारयुक्त प्रदेश में जल भरते हुए घड़े का शब्द सुन मैंने समझा कोई हाथी चिंघाड़ रहा है। मुझे दिखलाई कुछ न पड़ा। मैंने केवल शब्द ही सुना।

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम्।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्य त्वपातयम्॥ १२॥

मैंने तर्कस से सर्पविष सदृश तीक्ष्ण और चमचमाता हुआ बाण निकालकर उस हाथी को बेधने की इच्छा से शब्द की ओर लक्ष्य करके छोड़ दिया।

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम्।
तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद्वनौकसः॥ १३॥

मैंने ज्योंही भयंकर सर्पविष के समान तीक्ष्ण उस बाण को छोड़ा त्योंही मुझे उस स्थान पर किसी वनवासी का शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ा।

हा हेति पततस्तोये बाणाभिहतमर्मणः।
तस्याहं करुणं श्रुत्वा निशिलालपतो बहु॥ १४॥
तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः।
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम्॥ १५॥

बाण से मर्माहत होकर गिरते हुए किसी व्यक्ति का हाय! हाय! शब्द हुआ। उस करुणापूर्ण वाणी को सुनकर मैं बहुत दुःखी हुआ। दीन और उदास होकर मैं सरयू तट के उस स्थान पर पहुँचा जहाँ एक तपस्वी बाण से घायल पड़ा था।

अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धकलशोदकम्।
पांसु शोणितदिग्धाङ्गं शयानं शरपीडितम्॥ १६॥

उस तपस्वी के सिर की जटाएँ बिखरी हुई थीं,

घड़े का जल फैल गया था। शरीर रक्त एवं धूल से व्याप्त था। वह भूमि पर पड़ा था और बाण की व्यथा से तड़फड़ा रहा था।

स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतसम्।
इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा॥ १७॥

मुझे भयभीत और विकल जान अपने दोनों नेत्रों से मेरी ओर देखकर और मुझे अपनी नेत्राग्नि से दग्ध करते हुए वह यह कठोर वचन बोला—

किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया।
एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि॥ १८॥
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे।
तौ कथं दुर्बलान्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ॥ १९॥

राजन्! वन में निवास करनेवाले मैंने आपका क्या बिगाड़ा था? आपने अपने एक ही बाण से मेरे मर्मस्थलों को घायल कर मेरे माता-पिता को भी, जो दुर्बल तथा अन्धे हैं एवं मेरे आने की प्रतीक्षा करते हुए प्यासे बैठे होंगे, मार डाला।

पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव।
तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वां स कुपितः शपेत्॥ २०॥

हे राजन्! अब आप शीघ्र मेरे पिताजी के पास जाकर उन्हें यह समाचार दो। उनके पास जाकर आप उन्हें प्रसन्न करें जिससे वे आपको शाप न दे दें।

विशल्य कुरु मां राजन् मा भूत्ते मनसो व्यथा।
तस्य त्वाताम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम्।
स मामुद्वीक्ष्य सन्त्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः॥ २१॥

हे राजन्! तुम शोक मत करो और मेरे इस बाण को निकाल दो। उसकी दीन-हीन एवं कातर अवस्था देखकर मैंने बाण खेंच लिया। बाण खेंचते ही उस मुनिपुत्र ने अत्यन्त भयभीत हो मेरी ओर देखा और अपने प्राण छोड़ दिये।

◀ एकोनपञ्चाशः सर्गः ▶ (४९)

दशरथ का परलोक-गमन—

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा।
आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः॥ १॥

(महाराज ने अपने कथन को जारी रखते हुए कहा—) मुनिपुत्र श्रवणकुमार के प्राण छोड़ने पर अपने कर्त्तव्य का निश्चयकर, मुनिपुत्र के कलश में जल भरकर उसे उठा उसके बतलाये मार्ग से मैं मुनि के आश्रम में गया।

तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ।
अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ॥ २॥

उस आश्रम में पहुँच कर मैंने पंख-रहित पक्षियों के समान श्रवणकुमार के दुर्बल, अन्धे, जराजीर्ण और रक्षारहित माता-पिता को देखा।

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत।
किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय॥ ३॥

मेरे पैरों की आहट सुनकर उस मुनि ने कहा—हे वत्स! इतनी देर क्यों कर रहे हो, शीघ्र जल लाओ।

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया।
हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतचित्त इवाब्रुवम्॥ ४॥

उस मुनि को देख, अत्यधिक भयभीत होकर लड़खड़ाती जिह्वा से अस्पष्ट अक्षरों में मैंने कहा—

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः।
सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम्॥ ५॥

हे महात्मन्! मैं दशरथ नामक क्षत्रिय हूँ। मैं आपका पुत्र नहीं हूँ। अपने कर्मों के द्वारा सज्जनगर्हित तथा पाप से जनित इस दुःख को प्राप्त हुआ हूँ।

भगवञ्शब्दमालक्ष्य मया गजजिघांसुना।
विसृष्टोऽम्भसि नाराचस्तेन तेऽभिहितः सुतः॥ ६॥

भगवन्! हाथी के शिकार के धोखे में शब्दवेधी बाण चलाकर मैंने जल भरने के लिए गये हुए आपके

पुत्र को मार डाला है।

स तत् श्रुत्वा वचः क्रूरं ममोक्तमघशंसिना।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम्॥ ७॥

मेरे किये हुए पापकर्म का दारुण वृत्तान्त मेरे ही मुख से सुनकर उस महातेजस्वी मुनि ने हाथ जोड़कर खड़े हुए मुझसे कहा—

यद्येतदशुभं कर्म न त्वं मे कथयेः स्वयम्।
फलेन्मूर्धा स्म ते राजन्सद्यः शतसहस्रधा॥ ८॥

हे राजन्! यदि आप अपने इस अधार्मिक और अशोभनीय कर्म को स्वयं मुझसे न कहते तो इस अधर्म से शीघ्र ही आपके मस्तक के सैकड़ों टुकड़े हो जाते।

अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं तेनैव जीवसि।
अपि ह्यद्य कुलं न स्यादिक्ष्वाकूणां कुतो भवान्॥ ९॥

हे राजन्! तुमने अज्ञान से यह कर्म किया है इसलिए अभी तक तुम जीवित हो। यदि आप जान-बूझकर ऐसा कर्म करते तो आज ही सारे रघुकुल का नाश हो जाता तुम्हारी तो बात ही क्या?

नय नौ नृपं तं देशमिति मां चाभ्यभाषत।
अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम्॥ १०॥

हे राजन्! अब तुम हम दोनों को उस स्थान पर ले चलो जहाँ हमारा पुत्र मरा पड़ा है। हम दोनों अपने पुत्र का दर्शन करना चाहते हैं। हे कौसल्ये! ऐसा उस मुनि ने मुझे कहा।

अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ।
अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया॥ ११॥

मैंने अकेले ही अत्यन्त दुःखित श्रवणकुमार के माता-पिता को वहाँ ले जाकर उसके मृत शरीर का स्पर्श कराया।

तौ पुत्रमात्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ।
निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चास्येदमब्रवीत्॥ १२॥

वे दोनों तपस्वी अपने मृत पुत्र का स्पर्श करके उसके शरीर पर गिर पड़े, फिर उसका पिता कहने लगा—

नाभिवादयसे माऽद्य न च मामभिभाषसे।
किन्नु शेषेऽद्य भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि॥ १३॥

हे वत्स! तूने आज न तो मेरा अभिवादन किया और न ही तू मुझसे बोल रहा है। तू भूमि पर क्यों पड़ा है? तू मुझसे रुष्ट है?

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम्।
कथं वत्स भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम्॥ १४॥

हे वत्स! इस अन्धी, तपस्विनी, दुःखिनी एवं पुत्रवत्सला तेरी बूढ़ी माता का भरण-पोषण अब मैं कैसे करूँगा?

तिष्ठ मा मा गमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः॥ १५॥

हे पुत्र! ठहरो, आज तुम यमपुरी को मत जाओ। कल तुम अपनी माता और मेरे साथ ही चलना।

उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने।
क्षिप्रमेव गमिष्यामस्त्वया सह यमक्षयम्॥ १६॥

तेरे बिना हम दोनों शोकार्त, अनाथ और दीन होकर इस वन में पड़े हैं। तुम्हारे बिना हम दोनों भी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे।

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत्।
ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया॥ १७॥

इस प्रकार वह दीन तपस्वी बार-बार करुणापूर्ण विलाप कर स्त्री सहित अपने मृत पुत्र को जलाञ्जलि= मृतक शरीर का स्नान आदि कराने में प्रवृत्त हुआ।

स कृत्वा तूदकं तूर्णं तापसः सह भार्यया।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम्॥ १८॥

महातेजस्वी तपस्वी ने भार्या सहित झटपट पुत्र को जलाञ्जलि देकर, हाथ जोड़कर सामने खड़े हुए मुझसे कहा—

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं गमिष्यसि॥ १९॥

जिस प्रकार आज मैं पुत्रवियोग से दुःखी हो रहा हूँ उसी प्रकार तुम भी अपने प्राणप्रिय पुत्र के शोक में प्राण त्यागोगे।

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु।
चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात्॥ २०॥

इस प्रकार मुझे शाप दे तथा नाना प्रकार से विलाप करते हुए चिता की अग्नि में देह को भस्म कर वे दोनों स्वर्ग चले गये।

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम्।
तदा बाल्याकृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा॥ २१॥

हे देवि! स्मरण करते हुए आज मुझे अपना वह पापकर्म स्मरण हो आया जो मैंने मूर्खतावश शब्दवेधी बाण चलाकर किया था।

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः।
इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह च भूमिपः॥ २२॥

हे देवि! उसी पापरूप कर्म का फल आज मेरे सामने है। यह कह मृत्यु-भय से त्रस्त होकर रोते हुए महाराज दशरथ कौसल्या से कहने लगे—

यदहं पुत्रशोकेन सन्त्यक्ष्याम्यद्य जीवितम्।
चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये साधु मां स्पृश॥ २३॥

पुत्रशोक के कारण अब मैं प्राण त्याग रहा हूँ। हे कौसल्ये! अब मैं तुम्हें आँखों से देख नहीं पा रहा हूँ, अतः तुम मेरे शरीर का स्पर्श करो।

चक्षुषा त्वां नपश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते।
दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम्॥ २४॥

हे कौसल्ये! आँखों से तू मुझे दिखाई नहीं देती और मेरी स्मरण-शक्ति भी नष्ट होती जा रही है। उधर यमराज के दूत चलने के लिए शीघ्रता कर रहे हैं।

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये।
न हि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम्॥ २५॥

इससे बढ़कर मुझे और क्या दुःख होगा कि मैं मरते समय भी सत्यपराक्रमी, धर्मात्मा राम को नहीं देख रहा हूँ।

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन।
हा पितृप्रिय मे नाथ हाऽद्य क्वासि गतः सुत॥ २६॥

हा राघव! हा महाबाहो! हा मेरे शोकों को नष्ट करनेवाले! हा पिता के प्राणप्रिय पुत्र! रघुकुल-दीपक! तुम कहाँ हो?

हा कौसल्ये विनश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि॥ २७॥

हा कौसल्ये! हा तपस्विनी सुमित्रे! हा कुलनाशिनी, शत्रुरूपा दयाहीना कैकेयि! आज मैं प्राण छोड़ रहा हूँ।

इति रामस्य मातुश्च सुमित्रायाश्च सन्निधौ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत्॥ २८॥

इस प्रकार राममाता कौसल्या और सुमित्रा के समीप महाराज दशरथ ने पुत्रशोक में विलाप करते हुए अपने प्राण त्याग दिये।

पञ्चाशः सर्गः (५०)

रानियों का विलाप और दशरथ के शव को तेलपात्र में रखना—

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम्।
हा नाथेति परिक्रुश्य पतेतुर्धरणीतले॥ १॥

कौसल्या और सुमित्रा महाराज को देखकर तथा उनके शरीर को स्पर्श कर (उन्हें मृतक जान) 'हा नाथ!' कहकर चिल्लाती हुई पछाड़ खाकर पृथिवी पर गिर पड़ीं।

कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्षिता।
उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्याभाषत॥ २॥

फिर शोक से दुर्बल, आँखों में आँसू भरे हुए, महारानी कौसल्या महाराज दशरथ का सिर अपनी गोद में रखकर कैकेयी को उपालम्भ देते हुए बोली—

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि॥ ३॥

हे निर्दयी एवं नियम-विरुद्ध आचरण करनेवाली कैकेयि! महाराज को परलोकवासी बनाकर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया। अब तुम निष्कण्टक राज्य भोगो।

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम।
विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे॥ ४॥

राम तो मुझे छोड़कर वन चला गया, पतिदेव स्वर्गवासी हो गये। दुर्गम पथ में साथियों से हीन पथिक की भाँति अब मुझे जीने की इच्छा नहीं है।

भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः॥ ५॥

देव-तुल्य अपने पति का परित्याग कर कौन स्त्री जीवित रहना पसन्द करेगी? हाँ, कैकेयी अवश्य जीयेगी, क्योंकि उसने अपने धर्म का त्याग कर दिया है।

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम्।
व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः॥ ६॥

अपने पति का आलिङ्गन कर विलाप करती हुई उस तपस्विनी कौसल्या को व्यवहार-कुशल मन्त्रियों ने वहाँ से हटाया।

तैलद्रोण्यामथामात्याः संवेश्य जगतीपतिम्।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम्॥ ७॥

मन्त्री लोगों ने तेलपूर्ण पात्र में महाराज के शव को रख दिया जिससे शव बिगड़े नहीं। तदनन्तर वे वसिष्ठ आदि गुरुजनों की आज्ञा से अन्य राज्यकर्मों को करने लगे।

न तु संस्करणं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः।
सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम्॥ ८॥

समयोचित कर्तव्यों को जाननेवाले मन्त्रियों ने पुत्रों के बिना महाराज का अन्त्येष्टि-संस्कार करना उचित नहीं समझा, अतः उन्होंने महाराज के शरीर को तेलपात्र में रखवा दिया।

गते तु शोकास्त्रिदिवं नराधिपे
महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च।
निवृत्तचारः सहसा गतो रविः
प्रवृत्तचारा रजनी ह्युपस्थिता॥ ९॥

लोकपति महाराज दशरथ के स्वर्ग सिधारने पर उनकी सब रानियाँ भूमि पर पड़ी रुदन कर रही थीं। इतने में ही अंशुमाली अपनी किरणों समेत अस्त हो गये और अन्धकार से आवृत्त रात्रि उपस्थित हो गई।

◀ एकपञ्चाशः सर्गः ▶ (५१)

राजा-रहित राष्ट्र की दुर्दशा का वर्णन—

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः॥ १॥

रात्रि के व्यतीत हो जाने पर सूर्योदय के पश्चात् राजकार्य में सहयोग देनेवाले अधिकारी एवं ब्राह्मणवर्ग—सभी लोग एकत्र हुए।

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च काश्यपः।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः॥ २॥
एते द्विजा सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन्।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम्॥ ३॥

महायशस्वी मार्कण्डेय, मौद्गल्य वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि—ये ब्राह्मण मन्त्रियों सहित आकर सर्वश्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठजी को सम्बोधित कर अपना-अपना अभिप्राय कहने लगे।

स्वर्गतश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह॥ ४॥

महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो गये। श्रीराम वन में हैं और तेजस्वी लक्ष्मण भी उन्हीं के साथ चले गये।

उभौ भरतशत्रुघ्नौ कैकेयेषु परन्तपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने॥ ५॥

शत्रुओं का मान मर्दन करनेवाले राजकुमार भरत और शत्रुघ्न केकय देश के राजा अपने मातामह के रमणीय राजगृह में निवास कर रहे हैं।

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम्।
अराजकं[1] हि नो राष्ट्रं न विनाशमवाप्नुयात्॥ ६॥

अतः इक्ष्वाकुवंशीय किसी पुरुष को आज ही राजा नियुक्त करना चाहिए जिससे सम्राट्हीन हमारा यह राष्ट्र नष्ट न हो।

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥ ७॥

सम्राट्-हीन देश में बिजली की चमक सहित महागर्जन करनेवाला विद्युन्माली नाम का मेघ अपने दिव्य जल से पृथिवी को नहीं सींचता।

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे॥ ८॥

अराजक राष्ट्र में कृषक खेतों में बीज नहीं बोते तथा पुत्र पिता के और स्त्री अपने पति के अधीन नहीं रहती, अर्थात् सब स्वतन्त्र हो जाते हैं।

अराजके धनं नास्ति भार्याप्यराजके।
इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके॥ ९॥

अराजक देश में धन नहीं रहने पाता (क्योंकि चोर-डाकू लूट लेते हैं।) स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं और घर में नहीं रहतीं। जब सब ओर भय एवं आतंक का साम्राज्य होता है तब सत्य का व्यवहार भी कैसे हो सकता है?

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च॥ १०॥

अराजक देश में शुभ-अशुभ कर्मों के लिए लोग सभा नहीं करते, न रमणीक उद्यान लगवाते (दण्ड-भय न होने के कारण लोग वृक्ष काट डालते हैं।) और न यज्ञशाला आदि बनवाते हैं।

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः।
सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः॥ ११॥

अराजक देश में शान्त, दान्त, व्रती और यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण लोग (विघ्न के भय से) दीर्घ समय तक चलनेवाले महायज्ञ भी नहीं करते।

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः।
ब्राह्मणा वसुसम्पन्ना विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः॥ १२॥

सम्राट्-हीन राज्य में धन-धान्य से परिपूर्ण ब्राह्मण लोग भी ऋत्विजों को यथोचित दक्षिणा नहीं देते।

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः॥ १३॥

अराजक राज्य में नट और नर्तक भी प्रसन्न नहीं रहते तथा राष्ट्रोन्नति के लिए उत्सव या सम्मेलन भी नहीं होते।

---

१. इस सम्पूर्ण सर्ग में अराजकता के दोषों का वर्णन है। यह सर्ग वेद के दो मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या है। वेद में अराजकता के दोषों का कथन निम्न रूप में हुआ है—

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्॥

—अथर्व० ५। १९। १५

अराजक राष्ट्र में वर्षा नहीं होती, समिति अराजक राज्य को योग्य नहीं समझती। अराजक राष्ट्र शत्रु की तो बात ही क्या मित्र को भी अपने वश में नहीं कर सकता। यजुर्वेद में अराजक राज्य की इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में निन्दा की गई है। देखिए—

यवासकौ शकुन्तिका हलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥

—यजुः० २३। २२

जिस प्रकार बड़ी चिड़िया के सामने छोटी चिड़िया दबी रहती है उसी प्रकार अराजक देश में प्रजा दबी रहती है। जैसे छोटी दरार में मोटी वस्तु घुसेड़ने से वह छिन्न-भिन्न हो जाती है वैसे ही अराजक देश में प्रजा की दशा होती है। अराजक देश में प्रजा का विनाश होता है, अतः अराजक देश प्रजा का घातक होता है।

नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः।
कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १४ ॥

नरपति-हीन राज्य में लेन-देन अथवा क्रय-विक्रय करनेवालों में विवाद उपस्थित होने पर मुकदमों के ठीक निर्णय नहीं होते। अराजक देश में कथावाचक उत्तम कथाएँ कहकर कथाप्रेमियों को सन्तुष्ट नहीं करते।

नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ १५ ॥

अराजक राष्ट्र में कुमारियाँ स्वर्णाभूषणों से अलंकृत होकर क्रीड़ा करने के लिए सायंकाल वाटिका में नहीं जातीं।

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रगामिभिः।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥ १६ ॥

अराजक राष्ट्र में विलासी लोग शीघ्रगामी यानों पर आरूढ़ होकर अपनी स्त्रियों को साथ ले वन-विहार के लिए नहीं जाते।

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १७ ॥

अराजक राष्ट्र में कृषक और गौओं की रक्षा करनेवाले धनवान् लोग सुरक्षित नहीं रहते। वे लोग अपने घर के द्वार खोलकर सुख से सो भी नहीं सकते।

नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जरा षष्टिहायनाः ॥ १८ ॥

अराजक राष्ट्र में साठ वर्ष की अवस्था वाले, लम्बे-लम्बे दाँतोंवाले हाथी घण्टों को टनटनाते हुए राजमार्ग पर चल सकते। (गुण्डे उनके दाँत ही काट लें।)

नाराजके जनपदे शरान् संततमस्यताम्।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने ॥ १९ ॥

अराजक देश में बाणविद्या का अभ्यास करनेवाले धनुर्धरों के हस्ततल का शब्द भी सुनाई नहीं देता।

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २० ॥

अराजक जनपद में दूर देश में व्यापार करनेवाले वणिक् लोग बहुत-सा माल लेकर, निर्भय होकर यात्रा नहीं कर सकते।

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी।
भावयन्नात्मनात्मानं यत्रसायंगृहो मुनिः ॥ २१ ॥

अराजक देश में एकाकी विचरण करनेवाला, आत्मा को परमात्मा में लगानेवाला मुनि सन्ध्याकाल होने पर जहाँ चाहे वहाँ डेरा नहीं डाल सकता। सायंकाल होने पर उसे भी किसी सुरक्षित स्थान पर निवास करना पड़ता है।

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते।
न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि ॥ २२ ॥

अराजक राष्ट्र में प्रजा का योग-क्षेम[1] नहीं होता। अराजक देश की सेना राष्ट्र की प्रतिद्वन्द्वी सेना का सामुख्य=मुकाबला कर उसे जीत भी नहीं सकती।

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम्।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २३ ॥

जैसे बिना जल की नदी अथवा बिना घास का वन तथा गोपाल के बिना गौएँ होती हैं वैसे ही राजा के बिना राष्ट्र हो जाता है।

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः।
तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार रथ का ज्ञापक चिह्न उसकी ध्वजा होती है, अग्नि का ज्ञान धुएँ से होता है इसी प्रकार हम लोगों का प्रकाशन चिह्न महाराज दशरथ दिवंगत हो गये। (इस समय यह देश अराजक है।)

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ २५ ॥

१. अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति का नाम योग और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा का नाम क्षेम है।

अराजक देश में कोई किसी का नहीं होता। जैसे बड़ी मछली छोटी को निगल जाती है उसी प्रकार लोग एक-दूसरों को मार कर खा जाते हैं।

ये हि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः॥ २६॥

जो लोग वर्णाश्रम-लोग की मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर नास्तिक हो जाते हैं, परन्तु राजदण्ड के भय से दबे रहते हैं वे भी अराजक देश में राजदण्ड के भय से निर्भय हो फलने-फूलने लगते हैं।

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः॥ २७॥

जैसे नेत्र शरीर का कल्याण करने में सदा सतर्क तत्पर रहता है उसी प्रकार राजा भी सत्य तथा धर्म की रक्षा के लिए सदा तैयार रहता है।

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥ २८॥

राजा ही धर्म का प्रवर्तक होता है, राजा ही कुलोचित कुलाचार का प्रवर्तक है। राजा ही राष्ट्र के लोगों का माता-पिता तथा पूर्ण हितकारी होता है।

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः।
विशेष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः॥ २९॥

अपने कर्त्तव्य का भली-भाँति पालन करने-वाला चरित्रवान् राजा—यम, कुबेर, इन्द्र और वरुण से भी बड़ा होता है।

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किञ्चन।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी॥ ३०॥

शिष्ट और अशिष्टों का विभाग कर, अपने चरित्रबल से सम्पूर्ण राष्ट्र को आलोकित करने-वाला राजा न हो तो अन्धकार से आवृत्त दिन के समान अच्छे-बुरे का भी ज्ञान न रहे, कोई किसी को न पूछे।

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः॥ ३१॥

हे द्विजश्रेष्ठ! महर्षे! महाराज के जीवित रहते हुए भी हम लोग आपकी आज्ञा का सदा इस प्रकार पालन करते रहे जिस प्रकार समुद्र अपनी वेला का उल्लंघन नहीं करता।

स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं
नृपं विना राज्यमरण्यभूतम्।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं
त्वमेव राजानमिहाभिषिञ्च॥ ३२॥

हे द्विजश्रेष्ठ! आपके प्रति हम लोगों का आज तक जो व्यवहार रहा है उसे देखकर—यह राज्य जो राजा के न रहने के कारण वन के समान हो रहा है इसे पुनः नगर के रूप में परिणत करने के लिए किसी इक्ष्वाकुवंशीय अथवा अन्य किसी को—शीघ्र ही राजपद पर अभिषिक्त कीजिए।

➤ द्विपञ्चाशः सर्गः ➤ (५२)

भरत-शत्रुघ्न को बुलाने के लिए दूत भेजना—

तेषां हि वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
मित्रामात्यगणान् सर्वान् ब्राह्मणांस्तानिदं वचः॥ १॥

उन ऋषियों की बातों को सुनकर वसिष्ठजी हितैषी मन्त्रियों और ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए बोले—

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परं सुखी।
भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन समन्वितः॥ २॥

महाराज दशरथ जिस भरत को राज्य दे गये हैं, वे भरत अपने भाई शत्रुघ्न के साथ अपने मामा के गृह पर सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं।

तच्छीघ्रं जवना दूता गच्छन्तु त्वरितैर्हयैः।
आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम्॥ ३॥

अतः शीघ्र ही तीव्रवेगवाले घोड़ों पर सवार हो ज्ञान-सम्पन्न दूत दोनों भाइयों को लेने के लिए जायें। इसके अतिरिक्त इस विषय में और क्या विचार हो सकता है?

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन्।
तेषां तु वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥

तब सभा में उपस्थित सभी लोगों ने महर्षि वसिष्ठ से कहा—"हाँ, दूत जाएँ।" उनका यह कथन सुन वसिष्ठजी बोले—

एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन।
श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः॥ ५॥

हे सिद्धार्थ! विजय! जयन्त! अशोक! नन्दन! तुम सब लोग यहाँ आओ। इस समय तुम्हें जो करना है वह मैं बताता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो।

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः।
त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद्भरतो मम॥ ६॥

तुम सब शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार होकर शीघ्र राजगृह नामक पुर को जाओ। वहाँ शोकरहित होकर भरत को मेरा सन्देश देना—

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥ ७॥

पुरोहित और सब मन्त्रियों ने आपसे कुशल कहा है और साथ ही यह भी कहा है कि तुम शीघ्र यहाँ से अयोध्या के लिए प्रस्थान करो, क्योंकि तुम्हारे द्वारा कोई आवश्यक कार्य कराना है।

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम्।
भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामिमं क्षयम्॥८॥

सावधान! रघुवंशियों के तेजक्षय=सर्वनाश का दुःखद समाचार कि श्रीराम वन चले गये और महाराज दशरथ दिवंगत हो गये—ये बात भरत से मत कहना।

कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च।
क्षिप्रमादाय राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत॥ ९॥

केकयराज अश्वपति और भरत के लिए इन रेशमी वस्त्रों और बहुमुल्य सुन्दर आभूषणों को लेकर तुम शीघ्र यहाँ से प्रस्थान करो।

ततः प्रास्थानिकं कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्।
वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः सन्त्वरिता ययुः॥ १०॥

(महर्षि वसिष्ठ के ये वचन सुन) वे दूत यात्रा की आवश्यक सामग्री तथा पाथेय (मार्ग का भोजन आदि) और महर्षि वसिष्ठजी की आज्ञा ले, शीघ्र ही वहाँ से चल दिये।

पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान्।
ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः॥ ११॥

स्वामी की आज्ञा पालन में तत्पर वे लोग मार्ग में अनेक प्रकार के सिंह, व्याघ्र, हिरण तथा हाथियों को देखते हुए, उस लम्बे मार्ग पर चले जाते थे।

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन पथा ततः।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरञ्जसा॥ १२॥

थके हुए घोड़ोंवाले उन दूतों ने उस लम्बे मार्ग को तय करके शीघ्रतापूर्वक गिरिव्रज=राजगृह नामक केकयराज के श्रेष्ठपुर=राजधानी में प्रवेश किया।

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं
भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम्।
अहेडमानास्त्वरया स्म दूता
रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः॥ १३॥

अपने स्वामी का प्रिय करने लिए, रघुकुल की रक्षा के लिए तथा उसी वंश के व्यक्ति को राज्य प्रदान कराने के लिए बड़े आदर के साथ वे दूत शीघ्रतापूर्वक उसी रात में गिरिव्रज नामक नगरी में प्रविष्ट हुए।

➤ त्रिपञ्चाशः सर्गः ➤ (५३)

भरत का दुःस्वप्न—

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम्।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः॥ १॥

जिस रात्रि में वे दूत उस नगर में प्रविष्ट हुए उसी रात में भरत ने भी एक अत्यन्त अशुभ स्वप्न देखा।

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम्।
पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत॥ २॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर में देखे हुए उस स्वप्न का स्मरण कर राजाधिराज दशरथ के पुत्र भरत अत्यन्त दुःखी हुए।

तप्यमानं समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः।
आयासं हि विनेष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः॥ ३॥

उन्हें घबराया हुआ देख उनके समवयस्क और प्रियवादी मित्र उनकी उदासीनता दूर करने के लिए सभा में नाना प्रकार की कथाएँ कहने लगे।

वादयन्ति तथा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च॥ ४॥

भरत को प्रसन्न करने के लिए उनमें से कोई तो वाद्य बजाने लगे, कोई नाचने और थिरकने लगे, कोई नाट्य करने लगे और कोई-कोई हँसाने-वाले चुटकुले कहने लगे।

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः।
गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः॥ ५॥

भरत के प्रिय चाहनेवाले उन मित्रों के द्वारा भरत को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाने पर भी भरतजी की उदासी दूर न हो सकी।

तमब्रवीत्प्रियसखो भरतं सखिभिर्वृतम्।
सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे॥ ६॥

मित्रों के मध्य बैठे हुए भरत के एक अत्यन्त अन्तरंग मित्र ने पूछा—हे मित्र! हम लोगों के इतना प्रयत्न करने पर भी आप हर्षित क्यों नहीं होते?

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच तम्।
शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम्॥ ७॥

मित्र के इस प्रकार पूछने पर भरतजी ने उत्तर दिया—हे मित्र! मेरे उदास होने का कारण सुनो।

स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम्।
पतन्तमद्रिशिखरात्कलुषे गोमयह्रदे॥ ८॥

मैंने स्वप्न में अपने पिताजी को म्लान-मुख, सिर के बाल खोले हुए तथा पर्वत की चोटी से गोबर के गन्दे गड्ढे में गिरते देखा है।

प्लवमानश्च मे दृष्टः स तस्मिन्गोमयह्रदे।
पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्नपि मुहुर्मुहुः॥ ९॥

मैंने यह भी देखा है कि वे उस गोबर के तालाब में मेढक की भाँति कूदते हुए, बार-बार हँसकर और अञ्जलि भर-भरकर तेल पी रहे हैं।

ततस्तिलोदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः।
तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवावगाहत॥ १०॥

मैंने यह भी देखा कि तिलमिश्रित भात खाकर, बार-बार मस्तक नीचे झुकाकर, सारे शरीर में तेल लगाकर वे उसी तेल में डूब गये।

स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं पतितं भुवि।
उपारुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम्॥ ११॥

मैंने दूसरा स्वप्न यह देखा कि—समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा पृथिवी पर गिर पड़ा है और सारी पृथिवी पर अन्धेरा छाया हुआ है।

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः॥ १२॥

महाराज दशरथ शरीर में लाल चन्दन लगाए हुए और लाल पुष्पों की माला पहने हुए, गधों से जुते रथ में बैठकर शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशा को गये हैं।

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम्।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति॥ १३॥

इस प्रकार का जो भयानक स्वप्न मैंने रात्रि में देखा है उससे यह निश्चय बोध होता है कि मेरी, राम, महाराज दशरथ अथवा लक्ष्मण की मृत्यु होगी।

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि।
अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते॥ १४॥

जो मनुष्य स्वप्न में गधे जुते हुए रथ पर सवार होकर यात्रा करता है, थोड़े ही दिनों में उसकी चिता से धुआँ निकलता दिखाई देता है।

एतन्निमित्त दीनोऽहं तन्न वः प्रतिपूजये।
शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः॥ १५॥

इसी कारण मैं दुःखी हूँ। इसी कारण मुझे आप लोगों की बातें अच्छी नहीं लगतीं। मेरा गला सूखा जा रहा है और मेरा मन अस्वस्थ हो रहा है।

◀ चतुःपञ्चाशः सर्गः ▶ (५४)

भरत का अयोध्या के लिए प्रस्थान—

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः।
प्रविश्यासह्यपरिखं रम्यं राजगृहं पुरम्॥ १॥

भरत अपने इष्टमित्रों से स्वप्न की बात कह ही रहे थे कि इतने में थके-मादे अयोध्या के दूत, दुर्लंघ्य परिखा (=खाई)-वाले रमणीय राजगृह नामक पुर में प्रविष्ट हुए।

समागम्य च राज्ञा च राजपुत्रेण चार्चिताः।
राज्ञः पादौ गृहीत्वा तु तमूचुर्भरतं वचः॥ २॥

दूतों ने केकयराज अश्वपति से भेंटकर और राजकुमार युधाजित् से सत्कृत हो महाराज को प्रणाम कर, भरतजी से कहा—

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥ ३॥

पुरोहित वसिष्ठ और सभी मन्त्रियों ने आपकी कुशलता पूछी है और कहा है कि तुम शीघ्र अयोध्या चले आओ, यहाँ एक अत्यन्त आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है।

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च।
प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय॥ ४॥

हे विशालाक्ष! ये महामूल्यवान् वस्त्र और आभूषण उन लोगों ने भेजे हैं। इन्हें आप अपने मामाजी को दे दीजिए।

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
दूतानुवाच भरतः कामैः सम्प्रतिपूज्य तान्॥ ५॥

भरत ने उन सम्पूर्ण वस्तुओं को लेकर बड़े प्रेम के साथ वे वस्त्राभूषण अपने नाना और मामा को दिये। तदनन्तर दूतों का जलपान आदि से सत्कार कर भरतजी ने उनसे पूछा—

कच्चित्सुकुशली राजा पिता दशरथो मम।
कच्चिच्चारोगता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि॥ ६॥

मेरे पिता महाराज दशरथ कुशलपूर्वक तो हैं? महात्मा राम और लक्ष्मण स्वस्थ और सानन्द तो हैं?

आर्या च धर्मनिरता धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी।
अरोगा चापि कौसल्या माता रामस्य धीमतः॥ ७॥

धर्मानुष्ठानों में रत, धर्मज्ञा, धर्मोपदेश करने-वाली, आर्या=उदारशीला, बुद्धिमान् श्रीराम की माता कौसल्या नीरोग तो हैं?

कच्चित्सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य साऽरोगा चापि मध्यमा॥ ८॥

धर्म के मर्म को समझनेवाली, वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता, मध्यमा रानी सुमित्रा कुशल-पूर्वक तो हैं?

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह॥ ९॥

सदा स्वार्थ में तत्पर, उग्र एवं क्रोध स्वभाव-वाली, अपने को सबसे बढ़कर बुद्धिमती समझने-

वाली मेरी माता कैकेयी तो स्वस्थ हैं ? चलते समय उन्होंने क्या मेरे लिए कोई सन्देशा भी दिया था ?

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना।
ऊचुः सप्रश्रयं वाक्यमिदं तं भरतं तदा॥ १०॥

बुद्धिमान् भरतजी के ये वचन सुन, दूतों ने नम्रतापूर्वक कहा—

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः॥ ११॥

हे पुरुषसिंह ! आप जिनका कुशल चाहते हैं वे सब कुशलपूर्वक हैं। इस समय लक्ष्मी आपका वरण करने के लिए उद्यत है, अतः आप यात्रा के लिए अपना रथ जुड़वाइए।

दूतैः सञ्चोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह।
राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः॥ १२॥

उन दूतों की प्रेरणा से भरत ने अपने नानाजी से कहा—हे राजन्! मैं पिताजी के पास जाना चाहता हूँ, क्योंकि दूत मुझे ले चलने के लिए जल्दी कर रहे हैं।

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा।
तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम्॥ १३॥

भरत की बात सुन केकयराज अश्वपति ने भरत का मस्तक सूँघकर यह कहा—

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया।
मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परन्तप॥ १४॥

हे तात ! मैं तुम्हें जाने की अनुमति देता हूँ। कैकेयी तुम जैसे पुत्र को पाकर सुपुत्रवती हुई है। हे शत्रुसूदन ! तुम वहाँ पहुँचकर अपनी माता और पिता से मेरा कुशलक्षेम कह देना।

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः।
तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १५॥

पुरोहित वसिष्ठजी, अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा धनुर्धारी श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाइयों से भी मेरा कुशलक्षेम कह देना।

तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान् कम्बलानजिनानि च।
अभिसत्कृत्य कैकयो भरताय धनं ददौ॥ १६॥

भरत को विदा करते हुए केकयराज ने उत्तम हाथी, बहुमूल्य शाल-दुशाले और मृगचर्म—इन वस्तुओं की प्रशंसा करते हुए, भरत को दिये।

ऐरावतानैन्द्रशिरान् नागान् वै प्रियदर्शनान्।
खराञ्शीघ्रान्सुसंयुक्तान् मातुलोऽस्मै धनं ददौ॥ १७॥

भरत के मामा युधाजित् ने उन्हें ऐरावत तथा ऐन्द्र जाति के सुन्दर हाथी और उत्तम जाति के शीघ्रगामी खच्चर दिये।

अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान् व्याघ्रवीर्यबलान्वितान्।
दंष्ट्रायुधान्महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ॥ १८॥

इनके अतिरिक्त अन्तःपुर में पले हुए भीमकाय और बलवीर्य में व्याघ्र के तुल्य, बड़े-बड़े दाँतोंवाले बहुत-से कुत्ते भी भरत को भेंट किये।

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत।
भरतः कैकेयीपुत्रो गमनत्वरया तदा॥ १९॥

केकयराज द्वारा प्रदत्त उन वस्तुओं को प्राप्त करके भी भरत प्रसन्न नहीं हुए। कैकेयीनन्दन भरत जाने के लिए शीघ्रता करने लगे।

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम्।
रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ॥ २०॥

अतः अपने नाना अश्वपति और मामा युधाजित् से आज्ञा माँग शत्रुघ्न सहित रथ में सवार हो भरत ने वहाँ से प्रस्थान किया।

◀ पञ्चपञ्चाशः सर्गः ▶ (५५)

भरत का अयोध्या में आगमन—

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान्।
भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः॥ १॥

पराक्रमी भरत राजगृह से निकलकर पूर्व की ओर चले और घोड़ों के थक जाने पर भी बहुत शीघ्र ही वे अयोध्या नगरी में पहुँचे।

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं वाक्यमब्रवीत्।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विन॥ २॥

अयोध्या को दूर से ही देखकर राजकुमार भरत ने सारथि से कहा—यह पुरी जगत्-प्रसिद्ध स्वच्छ एवं हरे-भरे उद्यानों से पूर्ण यशस्विनी अयोध्या प्रतीत नहीं होती।

यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिपरिपालिता॥ ३॥
अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान्।
समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम्॥ ४॥

अत्यन्त समृद्धिशालिनी, राजर्षियों द्वारा पालित अयोध्यापुरी में पहले यज्ञकर्ता, गुणी एवं वेदों के पारंगत विद्वानों के वेदपाठ का तुमुल शब्द सुनाई पड़ता था, चारों ओर नर-नारियों का भी कोलाहल सुनाई देता था—वह सब आज मुझे सुनाई नहीं देता।

न ह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः।
निर्यान्तो वाऽभियान्तो वा नरमुख्या यथापुरम्॥ ५॥

रथ, हाथी और घोड़ों पर आरूढ़ होकर जैसे पहले लोग आते-जाते दिखाई देते थे वैसे आज दिखाई नहीं देते।

अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च।
निमित्तान्यमनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः॥ ६॥

अनिष्ट-सूचक अनेक प्रकार के अपशकुनादि और भयंकर निमित्तों को देखकर मेरा मन दुःखी हो रहा है?

सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु।
तथा ह्यसति संमोहे हृदये सीदतीव मे॥ ७॥

हे सूत! इन भयंकर अपशकुनों को देख मुझे प्रतीत होता है कि हमारे बन्धु-बान्धवों का कुशलपूर्वक होना अत्यन्त दुर्लभ है। घबराने का कारण न होने पर भी मेरा हृदय बैठा जा रहा है।

किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनाऽनघ।
अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे॥ ८॥

हे अनघ! बिना कारण बताये हुए मुझे अयोध्या क्यों बुलाया गया है। मेरे मन में अनेक प्रकार की अशुभ शंकाएं उत्पन्न हो रही हैं और धैर्य टूट-सा रहा है।

श्रुता नो यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने।
आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे॥ ९॥

हे सारथे! राजाओं के मरने पर जो अमाङ्गलिक लक्षण या आकार-प्रकार मैंने सुन रखे थे, आज उन सभी लक्षणों को मैं यहाँ देख रहा हूँ।

अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम्।
अपेतमाल्यशोभान्यप्यसंमृष्टाजिराणि च॥ १०॥

गृहस्थों के भवन मुझे विचित्र ध्वजाओं और बन्दनवारों से रहित देख पड़ते हैं। किसी भी गृहस्थ के द्वार पर पुष्पमालाएँ लटकती दिखाई नहीं देतीं। सब घरों के आँगन बिना झाड़े-बुहारे पड़े हैं।

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै।
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः॥ ११॥

यहाँ के व्यापारी पहले की भाँति प्रफुल्लचित्त दिखाई नहीं देते। चिन्ता के कारण इनका हृदय उद्वेलित हो रहा है और व्यापार नष्ट होने के कारण इनकी सारी गति अविरुद्ध हो गई है।

मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम्।
सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे॥ १२॥

मैले वस्त्र धारण किये हुए, आँखों में आँसू भरे

हुए, दीन, चिन्ताग्रस्त, दुबले-पतले और घबराए हुए स्त्री-पुरुष ही मुझे नगर में दिखाई पड़ रहे हैं।

बहूनि पश्यन् मनसोऽप्रियाणि
यान्यन्यदा नात्र पुरे बभूवुः।
अवाक्शिरा दीनमना न हृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म॥ १३॥

इस प्रकार के अनेक अप्रिय दृश्यों को जो इससे पूर्व अयोध्या में उन्होंने कभी नहीं देखे थे, देखकर सिर नीचा किये हुए हर्षशून्य भरतजी ने अपने पिता महात्मा दशरथ के गृह में प्रवेश किया।

◀ षट्पञ्चाशः सर्गः ▶ (५६)

भरत का सन्ताप—

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये।
जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये॥ १॥

पिताजी को उनके भवन में न देख भरतजी अपनी माता का दर्शन करने के लिए उनके गृह में गये।

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम्।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम्॥ २॥

बहुत दिन के पश्चात् प्रवास से लौटे हुए अपने प्रिय पुत्र भरत को देख कैकेयी हर्षित होकर सोने के आसन से उठ खड़ी हुई।

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम्।
भरतः प्रतिजग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ॥ ३॥

महात्मा भरत ने शोभाहीन अपनी माता के गृह में प्रवेश कर माता के शुभ चरणों को छूकर प्रणाम किया।

तं मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम्।
अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ ४॥

कैकेयी भरतजी का मस्तक सूँघ, उसे हृदय से लगा और गोदी में बैठा कर उससे पूछने लगी—

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि॥ ५॥

हे वत्स! तुम्हारे नाना अश्वपति और मामा युधाजित् तो कुशलपूर्वक हैं न? प्रवास में तुम सुखपूर्वक तो रहे? यह सब मुझे बतलाओ।

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः॥ ६॥

माता के इन प्रिय प्रश्नों के पूछने पर कमलनेत्र राजपुत्र भरत ने अपनी माता को वहाँ का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हसि॥ ७॥

आपके पूज्य पिता और मेरे नाना तथा मामा युधाजित् कुशलपूर्वक हैं। हे माता! अब मैं जो कुछ पूछूँ वह मुझे बताइए।

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः।
न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे॥ ८॥

स्वर्णभूषित आपका यह पलंग महाराज के बिना सूना क्यों है? राजकीय भृत्यवर्ग भी मुझे प्रसन्न दिखाई नहीं दे रहे हैं।

राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने।
तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः॥ ९॥

महाराज प्रायः आपके ही भवन में रहा करते थे, यही समझ कर मैं उनके दर्शन करने के लिए यहाँ आया था, किन्तु मैं उन्हें यहाँ भी नहीं देख रहा हूँ।

पितुर्ग्रहीष्ये चरणौ तं ममाख्याहि पृच्छतः।
आहोस्विदम्ब ज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने॥ १०॥

मुझे बताओ कि पिताजी कहाँ हैं? मैं उनके चरणयुगल में प्रणाम करूँगा। पिताजी ज्येष्ठा माता

कौसल्या के घर में तो नहीं हैं ?

तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद्घोरमप्रियम्।
अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता॥ ११॥

राज्यलोभ से मोहित सम्पूर्ण वृत्तान्त को जाननेवाली कैकेयी महाराज का वृत्तान्त न जानने-वाले भरत से प्रिय संवाद के रूप में यह घोर अप्रिय वचन बोली—

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः॥ १२॥

पुत्र! जो गति सारे प्राणियों की होती है, तुम्हारे पूज्य पिता भी उसी गति को प्राप्त हुए। तेजस्वी, यज्ञशील, महात्मा दशरथ सज्जनों की गति को प्राप्त हुए हैं।

तत् श्रुत्वा भरतो वाक्यं हा हतोऽस्मीत्युक्त्वा शुचिः।
पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः॥ १३॥

कैकेयी की यह बात सुनकर निष्कपट भरत पितृशोक से व्याकुल होकर और 'हाय मैं मारा गया' ऐसा कहकर सहसा भूमि पर गिर पड़े।

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ विपरिवृत्य च।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः॥ १४॥

चिरकाल तक भूमि पर लेट कर और रोते हुए शोकाक्रान्त भरत ने अपनी माता से कहा—

अभिषेक्ष्यति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसङ्कल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्॥ १५॥

हे माता! महाराज श्रीराम का राज्याभिषेक करेंगे और स्वयं कोई यज्ञानुष्ठान करेंगे ऐसा संकल्प कर मैंने प्रसन्न होकर अपनी यात्रा आरम्भ की थी।

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम्॥ १६॥

परन्तु यहाँ तो मैं उलटा ही देख रहा हूँ। अपने सदा हितैषी पिताजी को न देखने के कारण मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है।

अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम्॥ १७॥

हे माता! पिताजी को कौन-सा रोग था कि मेरे आने से पूर्व ही वे परलोकवासी हो गये। श्रीराम आदि बन्धु धन्य हैं जिन्होंने पिताजी का अन्त्येष्टि-संस्कार किया।

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः।
येन मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति॥ १८॥

हा! महाराज का वह सुखस्पर्शी हाथ जो मेरे धूलधूसरित शरीर को झाड़ा करता था अब कहाँ गया ?

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥ १९॥

अच्छा, अब जो मेरे भ्राता, पिता और बन्धु हैं, जिन बुद्धिमान् का मैं दास हूँ, उस सरल-स्वभाव राम के विषय में मुझे बताओ, वे कहाँ हैं ?

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥ २०॥

धर्मानुरागी और विवेकी जनों के लिए बड़ा भाई ही पिता के तुल्य होता है। इस समय वे ही मेरा आश्रय हैं, मैं उनकी चरणवन्दना करूँगा।

धर्मविद्धर्मनित्यश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः।
आर्यः किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः॥ २१॥

धर्मज्ञ, धर्म का अनुष्ठान करनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़व्रत पूज्य पिताजी मेरे विषय में क्या आज्ञा कर गये हैं।

पश्चिमं साधु सन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः।
इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत्॥ २२॥

मैं अपने विषय में पिताजी का अन्तिम सन्देश सुनना चाहता हूँ। भरत के इस प्रकार पूछने पर कैकेयी ने यथार्थ बात कही।

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च।
स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः॥ २३॥

तुम्हारे पिता हा राम! हा लक्ष्मण! हा सीते! इस प्रकार विलाप करते हुए परलोकवासी हो गये।

इमां तु पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव।
कालधर्मपरिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः॥ २४॥

बन्धन बँधे हुए गजराज की भाँति कालधर्म से विवश होकर तुम्हारे पिताजी ने अन्तिम समय कहा था—

सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम्॥ २५॥

जो लोग सीता सहित श्रीराम और महाबाहु लक्ष्मण को वन से लौटा हुआ देखेंगे वे ही सफल मनोरथ होंगे।

तत् श्रुत्वा विषसादैवं द्वितीयाप्रियशंसनात्।
विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम्॥ २६॥

इस दूसरी अप्रिय बात को सुनकर भरतजी और अधिक दु:खी हुए, फिर विषादपूर्ण मुखवाले भरत ने माताजी से पूछा—

क्व चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समं गतः॥ २७॥

माता! वे धर्मात्मा और कौसल्या के आनन्द को बढ़ानेवाले राम इस समय भाई लक्ष्मण और सीता के साथ कहाँ गये हैं?

तथा पृष्टा यथातत्त्वमाख्यातुमपचक्रमे।
माताऽस्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया॥ २८॥

भरत के इस प्रकार पूछने पर कैकेयी ने यह समझकर कि भरत राम-वनगमन से प्रसन्न होगा, महाराज दशरथ-मरण की बात कहने के पश्चात् दूसरी अप्रिय बात कहनी आरम्भ की।

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम्।
दण्डकान् सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः॥ २९॥

हे वत्स! वे राजकुमार राम वल्कल-वस्त्र धारण कर सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक नामक महावन में चले गये हैं।

तत् श्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ ३०॥

राम-वनगमन की बात सुनकर भरत भाई के चरित्र की आशंका से भयभीत हो गये। अपने वंश के माहात्म्य तथा कीर्ति को लक्ष्य में रखकर भरतजी ने अपनी माता से पूछा—

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित्।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः॥ ३१॥

हे माता! क्या राम ने किसी ब्राह्मण का धन छीना था? अथवा क्या राम ने बिना अपराध किसी धनाढ्य या निर्धन की हत्या की थी।

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः॥ ३२॥

क्या राम ने किसी पर-स्त्री की ओर कुदृष्टि से देखा था? मेरे भ्राता राम को किस अपराध के कारण दण्डक वन में भेजा गया।

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना।
उवाच वचनं हृष्टा मूढा पण्डितमानिनी॥ ३३॥

महात्मा भरत के इस प्रकार पूछने पर अपने-आपको पण्डिता माननेवाली वह मूर्खा प्रसन्न होकर बोली—

न ब्राह्मणधनं किञ्चिद्धृतं रामेण धीमतः।
कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः।
न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति॥ ३४॥

वत्स! बुद्धिमान् राम ने न तो किसी ब्राह्मण के धन का अपहरण किया और न ही किसी धनी अथवा दरिद्र का वध किया। राम परस्त्री को तो आँख उठाकर भी नहीं देखता।

मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्यैवाभिषेचनम्।
याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम्॥ ३५॥

हे पुत्र! जब मैंने राम के राज्याभिषेक की बात सुनी तब मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिए राज्य और राम के लिए वनवास माँगा।

स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत्तथाऽकरोत्।
रामश्च सह सौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया॥ ३६॥

सत्यप्रतिज्ञ तुम्हारे पिता ने मेरी याचना को स्वीकार कर लक्ष्मण और सीता के साथ राम को वनवास दे दिया।

तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः।
पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान्॥ ३७॥

महायशस्वी महाराज दशरथ अपने प्रिय पुत्र राम को न देखने के कारण, पुत्र-शोक से पीड़ित हो पञ्चत्व को प्राप्त हुए।

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम्।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम्॥ ३८॥

हे धर्मज्ञ! अब तुम राजपद को स्वीकार करो, क्योंकि मैंने यह सब कुछ तुम्हारे ही लिए किया है।

तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञैः
वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः।
सङ्कल्प्य राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व॥ ३९॥

इसलिए हे पुत्र! तुम विधि के जाननेवाले वसिष्ठादि प्रमुख द्विजों के साथ महापराक्रमी अपने पिता का अन्त्येष्टि-संस्कार कराओ तथा पृथिवीपति पद पर अपना अभिषेक कराओ।

⮜ सप्तपञ्चाशः सर्गः ⮞ (५७)

भरत द्वारा कैकेयी की निन्दा—

श्रुत्वा तु पितरं वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ।
भरतो दुःखसन्तप्त इदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

पिता का मरण और दोनों भाइयों के वनगमन का वृत्तान्त जानकर दुःख से सन्तप्त हो भरत कैकेयी से कहने लगे—

किन्नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च॥ २॥

पिता और पितृतुल्य भाई रहित होने के कारण मेरा तो सर्वनाश हो गया। ऐसी शोच्य दशा में मुझे राज्य से क्या प्रयोजन?

दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवादधाः।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम्॥ ३॥

तुमने महाराज दशरथ की हत्या कर और राम को वनवासी बना मुझे दुःख-पर-दुःख दिया है, मानो कोई कटे हुए घाव पर नमक छिड़क दे।

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि।
सुखं परिहृतं मोहात् कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि॥ ४॥

अरे पापिष्टे! तुमने महाराज को मार डाला। अरी कुलनाशिनी! तुमने मोहवश इस कुल का सम्पूर्ण सुख एवं वैभव नष्ट कर डाला।

ननु त्वार्योऽपि धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुत्तमाम्।
वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते॥ ५॥

मेरे ज्येष्ठ और धर्मात्मा भाई राम तुम्हारे साथ सदा उत्तम व्यवहार ही करते रहे। बड़ों के पदचिह्नों पर चलनेवाले वे तुम्हारी भी ऐसी ही सेवा करते थे जैसी अपनी जननी कौसल्या की।

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते॥ ६॥

मेरी ज्येष्ठा माता कौसल्या भावी विपत्ति को जानने पर भी धर्मानुकूल तेरे साथ सगी बहन का-सा व्यवहार करती थी।

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम्।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि॥ ७॥

उसी सरल-हृदया कौसल्या के धर्मात्मा पुत्र को चीर और वल्कल पहनाकर तुमने वन में भिजवा दिया, हे पापिनी! फिर भी तुझे दुःख क्यों नहीं होता?

अपापदर्शनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम्।
प्रव्राज्य चीरवसनं किन्नु पश्यसि कारणम्॥ ८॥

पवित्रात्मा, वीर, यशस्वी और उदार राम को वल्कल-वस्त्र पहनाकर और वन में भिजवा कर तुमने क्या फल पाया?

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ।
केन शक्तिप्रभावने राज्यं रक्षितुमुत्सहे॥ ९॥

मैं उन पुरुषसिंह राम और लक्ष्मण के देखे बिना किस शक्ति के बल पर इस राज्य की रक्षा कर सकता हूँ।

अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम्॥ १०॥

अथवा यदि मैं साम-दान आदि उपायों से और बुद्धिबल से इस राज्य-भार को उठा भी लूँ तो भी अपने ही पुत्र के प्रति स्नेह करनेवाली, तेरे इस मनोरथ को मैं पूरा न होने दूँगा।

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता॥ ११॥

अरे पापदर्शिनि! हमारे पूर्वजों की प्रथा को कलङ्कित करनेवाली यह पापपूर्ण बुद्धि तुममें कहाँ से उत्पन्न हुई?

अस्मिन् कुले हि पूर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन्प्रवर्तन्ते समाहिताः॥ १२॥

रघुवंश की यह परम्परा है कि बड़ा भाई ही राज्य का अधिकारी होता है और छोटे भाई उसके अधीन सब कार्य करते हैं।

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये।
निवर्तयिष्यामि वनाद्भ्रातरं स्वजनप्रियम्॥ १३॥

हे पाप-निश्चये! मैं तुम्हारे इस मनोरथ को कभी पूरा नहीं होने दूँगा। मैं स्वजनप्रिय अपने भाई राम को वन से लौटा कर लाऊँगा।

किन्तु तेऽदूषयद्राजा रामो वा भृशधार्मिकः।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ॥ १४॥

भला बताओ तो महाराज दशरथ ने और परम धार्मिक राम ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था जो तुमने महाराज को तो मार दिया और राम को वन में निकाल दिया।

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः॥ १५॥

तेरे ही कारण मेरे पिताजी मृत्यु का ग्रास हुए और मेरे भाई राम वनवासी हुए। संसार में मेरे लिए तुमने अपयश का बीज बोया है।

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः॥ १६॥

तुम बुद्धिमान् एवं धर्मात्मा अश्वपति की कन्या कहलाने योग्य नहीं हो। मेरे पिता के कुल को नष्ट करने के लिए तुम तो उस घर में राक्षसी पैदा हुई हो।

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चापि जायते[1]।
तस्मात्प्रियतमो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः॥ १७॥

पुत्र माता के अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हृदयकमल से उत्पन्न होता है, अतः वह माता का अत्यधिक प्रिय होता है। अन्य बान्धव तो केवल प्रिय होते हैं। (ऐसी परम प्रिय वस्तु का वियोग माता के लिए कितना दुःखदायी होगा तुमने यह भी नहीं विचारा।)

आनाय्य च महाबाहुं कौसल्याया महाबलम्।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम्॥ १८॥

मैं महाबली, विशाल भुजावाले कौसल्यानन्दन राम को वन से लौटाकर स्वयं मुनि-सेवित वन में प्रवेश करूँगा।

अहमप्यवनिं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः॥ १९॥

सत्यपराक्रमी भ्राता राम के अयोध्या में लौटकर राज्य प्राप्त कर लेने पर मैं सफल मनोरथ हो जाऊँगा तथा श्रीराम के निर्वासन के पाप का मार्जन कर सकूँगा।

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशचोदितः।
पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः॥ २०॥

भरतजी इस प्रकार विलाप करते-करते तोमर और अङ्कुश के प्रहार से उत्पीड़ित हाथी के समान क्रोध में भरकर पृथिवी पर गिर पड़े और सर्प की भाँति फुंकारें मारने लगे।

१. यह श्लोक 'शतपथ-ब्राह्मण' के निम्न वचन से साम्य रखता है—
अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे॥
—शत० ब्रा० १४।९।४।८

अष्टपञ्चाशः सर्गः (५८)

भरत की शपथें—

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः।
कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रामिदमब्रवीत्॥ १॥

इस प्रकार रोते-चिल्लाते हुए भरतजी के कण्ठ स्वर को पहचान महारानी कौसल्या सुमित्रा से बोली—

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेया भरतः सुतः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम्॥ २॥

जान पड़ता है—क्रूरकर्मा कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है। मैं उस दीर्घदर्शी भरत को देखना चाहती हूँ।

एवमुक्त्वा सुमित्रां सा विवर्णा मलिना कृशा।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना॥ ३॥

सुमित्रा से ऐसा कह, राम वियोग के कारण अति दुर्बल, कान्तिहीन मुखवाली कौसल्या थर-थर काँपती हुई और अचेत-सी भरत की ओर चली।

स तु रामानुजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा।
प्रतस्थे भरतो यत्र कौसल्याया निवेशनम्॥ ४॥

उधर राजकुमार भरत ने भी उसी मार्ग से अपने भाई शत्रुघ्न के साथ कौसल्या के राजमहल की ओर प्रस्थान किया।

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम्॥ ५॥

मार्ग में जाते हुए भरत और शत्रुघ्न कौसल्या को देखकर बहुत दुःखी हुए। वे दुःख-पीड़ित तथा चेतनाशून्य होकर भूमि पर गिरी माता को लिपट गये और रोने लगे।

रुदन्तौ रुदतीं दुःखात्समेत्यार्या मनस्विनी।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता॥ ६॥

भरत और शत्रुघ्न दोनों भाइयों को रोते देखकर अत्यन्त दुःखित मनस्विनी आर्या कौसल्या भरत को अपने हृदय से लगा रोते हुए यह बोली—

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा॥ ७॥

तुम्हें राज्य की अभिलाषा थी, लो! तुम्हें यह निष्कण्टक राज्य प्राप्त हो गया, परन्तु खेद है कि कैकेयी ने अत्यन्त क्रूरकर्म करके यह राज्य प्राप्त किया है।

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी॥ ८॥

मेरे पुत्र को वल्कल-वस्त्र पहना और वन भेजकर इस क्रूरदर्शिनी ने क्या फल पाया?

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति।
हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः॥ ९॥

कैकेयी को चाहिए कि मुझे भी वहाँ शीघ्र भेज दे जहाँ ज्ञान-विज्ञानपूर्ण, सुवर्ण जैसे शरीर-वाला महायशस्वी मेरा पुत्र राम निवास कर रहा है।

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः॥ १०॥

अथवा मैं स्वयं सुमित्रा को साथ लेकर तथा अग्निहोत्र को आगे कर (साथ लेकर) सहर्ष वहाँ चली जाऊँगी जहाँ राम है।

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रः पुत्रो मे तप्यते तपः॥ ११॥

अथवा तुम स्वयं मुझे वहाँ पहुँचा आओ जहाँ पुरुषसिंह मेरा पुत्र राम तप कर रहा है।

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम्।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया॥ १२॥

तुम्हें तो कैकेयी ने धन-धान्य तथा हाथी, घोड़े और रथों से परिपूर्ण यह राज्य दिलवा ही दिया है।

इत्यादि बहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः।
विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना॥ १३॥

इत्यादि अनेक कठोर वाक्यों द्वारा कौसल्या ने जब निष्पाप भरत को फटकारा तब भरतजी को ऐसा

क्लेश हुआ जैसा घाव में सुई चुभोने से होता है।

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः।
विलप्य बहुधाऽसंज्ञो लब्धसंज्ञस्ततः स्थितः॥ १४॥
एवं विलपमानां तां भरतः प्राञ्जलिस्तदा।
कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम्॥ १५॥

कौसल्या के इन कठोर वचनों को सुनकर भरतजी उद्विग्न होकर माता के चरणों मे गिर पड़े। बहुत प्रकार से विलाप करके वे मूर्छित हो गये। जब उन्हें होश आया तब वे हाथ जोड़कर शोकाक्रान्त और नाना प्रकार से विलाप करती हुई कौसल्या से कहने लगे—

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकिल्बिषम्।
विपुलां च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे॥ १६॥

हे आर्ये! राम-वनगमन के विषय में अनभिज्ञ और निर्दोष होने पर भी आप मुझे दोष क्यों देती हैं? श्रीराम में मेरा कैसा अगाध प्रेम है यह बात आप जानती ही हैं।

कृता शास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत्तस्य कदाचन।
सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ १७॥

सत्यव्रती, सज्जन-श्रेष्ठ आर्य राम के वनगमन में जिसने परामर्श दिया हो उस अभागे की बुद्धि कभी भी शास्त्रानुगामी न हो (अर्थात् वह वेदादि शास्त्रों को न पढ़ सके।)

प्रेष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु।
हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्योऽनुमते गतः[१]॥ १८॥

जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों वह पापात्मा नीच जाति का सेवक हो। उस भाग्यहीन व्यक्ति को वह पाप लगे जो सूर्य की ओर मुख करके मल-मूत्र त्याग करनेवाले और सोती हुई गौ को लात मारनेवाले को लगता है।

कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम्।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ १९॥

नौकर से बहुत-सा काम कराकर उसे मजदूरी न देनेवाले स्वामी को जो पाप लगता है वही पाप उस भाग्यहीन को लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हैं।

परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत्।
सततं द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २०॥

श्रीराम जिसके परामर्श से वन भेजे गये हैं उसे वही पाप लगे जो पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेवाले राजा के प्रति विद्रोह करनेवाले को लगता है।

बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षतः प्रजाः।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २१॥

जो सम्राट् प्रजा से छठा भाग 'कर' लेकर भी प्रजा की रक्षा न करे उस अन्यायी राजा को जो पाप लगता है वही पाप उस व्यक्ति को लगे जिसकी सम्मति से आर्य राम वन गये हैं।

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम्।
तां विप्रलपतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २२॥

यज्ञ में ऋत्विजों को दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा करके जो पीछे दक्षिणा न दे ऐसे मिथ्यावादी को जो पाप लगता है वही पाप उसे लगे जिसकी सम्मति से आर्य राम वन गये हैं।

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धशस्त्र समाकुले।
मा स्म कार्षीत्सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २३॥

हाथी, घोड़े, रथ और शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर

---

१. सूर्य की ओर मुख करके मल-मूत्र त्यागनेवाले और गौ को लात मारनेवाले के लिए वेद में वध-दण्ड का विधान है। देखिए—

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ्ङ सूर्यं च मेहते।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्॥
—अथर्व० १३।१।५६

सूर्य की ओर मुख करके मल-मूत्र त्यागने से सिर दर्द आदि अनेक रोग हो जाते हैं। जो गौ हमें अमृत तुल्य उत्तम दूध पिलाती है उसे लात मारना ठीक नहीं।

भी जो संग्राम में वीरोचित कार्य न करे, अर्थात् युद्ध से पराङ्मुख होकर भागे ऐसे कायर व्यक्ति को जो पाप लगता है वही पाप उस व्यक्ति को लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों।

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमता।
स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २४॥

जिसके परामर्श से राम वन गये हैं वह दुष्टात्मा बुद्धिमान् गुरु द्वारा उपदिष्ट परलोकसाधक एवं सूक्ष्म तत्त्ववाले शास्त्र को भूल जाए।

मा च तं व्यूढबाह्वंसं चन्द्रार्कसमतेजसम्।
द्राक्षीद्राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २५॥

जिसके परामर्श से आर्य राम वन गये हैं वह विशालबाहु, समुन्नत-स्कन्ध और चन्द्र-सूर्य के समान तेजस्वी श्रीराम का राज्याभिषेक न देख सके, अर्थात् तब तक जीवित न रहे, मर जाए।

पायसं कृसरं छागं वृथा सोऽश्नातु निर्घृणः।
गुरूंश्चाप्यवजानातु यस्यार्योऽनुमते गतः[1]॥ २६॥

ब्रह्मयज्ञ=सन्ध्या, देवयज्ञ=अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ किये बिना जो व्यक्ति खीर, तिल, चावल खाता और बकरी का दूध पीता है तथा गुरु को देखकर खड़े न होनेवाले और गुरु को प्रणाम न करनेवाले व्यक्ति को जो पाप लगता है वही पाप उस पापी को लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों।

गाश्च स्पृस्तु पादेन गुरून्परिवदेत्स्वयम्।
मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यन्तं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २७॥

गौ को पैर से छूनेवाले, गुरुजनों की निन्दा करनेवाले और मित्रों से द्रोह करनेवाले पतितों को जो पातक लगता है वही पातक उसे लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हैं।

विश्वासात्कथितं कञ्चित्परिवादं मिथः क्वचित्।
विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २८॥

परस्पर विश्वासपूर्वक कही हुई निन्दाजनक बातों को जो दुष्टात्मा प्रकाशित कर देता है उस विश्वासघाती को जो पाप लगता है वही पाप उसे लगे जिसके परामर्श से आर्य राम वन गये हों।

अकर्ता ह्यकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा निरपत्रपः।
लोके भवतु विद्वेष्यो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २९॥

---

१. यह श्लोक वैदिक विधान का संकेत कर रहा है। वेद में कहा है—

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्।
—अथर्व० ९।६ (३) ७

श्रोत्रिय की अतिथि संज्ञा है। उसके खाने से पूर्व नहीं खाना चाहिए।

महर्षि मनु ने कहा है—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥
—मनु० ३।११८

जो केवल अपने लिए पकाता है वह पाप ही खाता है। यज्ञशेष ही सज्जनों का भोजन है। यह सनातन विधान है।

मनुस्मृति और रामायण की इस विचारधारा का समर्थन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी किया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
—गीता ३।१३

यज्ञ से बचे को खानेवाले सब पापों से छूट जाते हैं। केवल जो अपने लिए पकाते हैं वे पापी तो पाप ही खाते हैं।

गुरु को अभिवादन के सम्बन्ध में महर्षि मनु का ओदश है—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥
—मनु० २।११९

गुरु के प्रयोग में आनेवाले आसन अथवा शय्या पर स्वयं न बैठे। यदि स्वयं आसन अथवा शय्या पर बैठा हो और गुरु आ जायें तो शय्या अथवा आसन से उठकर उन्हें 'नमस्ते' कहनी चाहिए।

वह उपकार का बदला न देनेवाला, कृतघ्न, सज्जनों से बहिष्कृत, निर्लज्ज और लोक में निन्दित हो जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हैं।

पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः।
स एको मृष्टमश्नातु[1] यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३०॥

जिसकी अनुमति से राम वन गये हों उसे वह पाप लगे जो पाप उस मनुष्य को होता है जो सामने बैठे हुए नौकर-चाकर, स्त्री और पुत्र को न देकर अकेला ही स्वादु पदार्थ खाता है।

अप्राप्य सदृशान् दारानपत्यः प्रमीयताम्।
अनवाप्य क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३१॥

वह अनुकूल पत्नी को बिना पाये पुत्रहीन होकर मर जाए तथा वह यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं को बिना किये ही मर जाए जिसकी सम्मति से आर्य राम वन गये हों।

माऽऽत्मनः सन्ततिं द्राक्षीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः।
आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३२॥

जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों वह अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न अपनी सन्तान को देखे बिना दुःखी होकर मर जाए।

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम्॥ ३३॥

राजा, स्त्री, बालक और वृद्ध के वध करने और निरपराध स्वामिभक्त नौकर को त्यागने से जो पाप होता है वही पाप उसको हो जिसकी अनमुति से आर्य राम वन गये हैं।

लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च।
सदैव बिभृयादभृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३४॥

लाख, माँस, मधु[2]=शराब, लोह[3]=मछली पकड़ने का काँटा और विष का विक्रय कर अपने आश्रित जनों का पालन करनेवाले को जो पाप लगता है वही पाप उसे लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हो।

संग्रामे समुपोढे तु शत्रुपक्षभयङ्करे।
पलायमानो बध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३५॥

जो मनुष्य भयङ्कर सैन्यदल देखकर युद्ध से पराङ्मुख होकर भागता हुआ मारा जाए ऐसे पापी को जो पातक लगता है अथवा संग्राम से भागे हुए शत्रु को मारनेवाले को जो पाप लगता है वही पाप उसको लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों।

कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृत्तः।
भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३६॥

जिसके परामर्श से राम वन गये हैं उसे वह पाप लगे जो उन्मत्त की भाँति चिथड़े लपेटे, मुर्दे की खोपड़ी हाथ में लिए द्वार-द्वार पर भीख माँगते हुए पृथिवी पर भ्रमण करनेवाले को लगता है।

मद्ये प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः।
कामक्रोधाभिभूतस्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३७॥

जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों वह मनुष्य सदा मद्य पीने, पर-स्त्रीगमन और जुआ खेलने में अत्यन्त आसक्त हो और सदा काम-क्रोध से

ऊर्ध्वं प्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥

—मनु० २।१२०

गुरु अथवा वृद्धजन के आने पर युवकों के प्राण ऊपर को चलने लगते हैं। They become nervous. वे घबरा जाते हैं। उठकर नमस्कार कर लेने पर वह घबराहट दूर हो जाती है।

१. वेद में कहा है—

केवलाघो भवति केवलादी। —ऋ० १०।११७।६

अकेला खानेवाला पापी होता है।

२. मधु का अर्थ शहद भी होता है, परन्तु माँस के साथ पठित होने के कारण यहाँ शराब अर्थ ही समीचीन है।

३. लोह का अर्थ लोहा भी होता है और रक्त भी। लोहा बेचना पाप नहीं है। रक्त की बात माँस में आ गई है, अतः हमने लोह का अर्थ किया है मछली पकड़ने का काँटा। यही अर्थ संगत है।

अभिभूत हो।

मा स्म धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम्।
अपात्रवर्षी भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३८॥

जिसके परामर्श से आर्य राम वन गये हों उसका मन धर्म में न लगे, वह अधर्म का सेवन करे और कुपात्रों को बहुत-सा दान दे।

सञ्चितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः।
दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३९॥

जिसके परामर्श से राम वन गये हों उसकी विधिपूर्वक कमायी हुई धन-सम्पति को दस्यु लोग लूट ले जाएँ।

उभे सन्ध्या शयानस्य[1] यत्पापं परिकल्पते।
तच्च पापं भवेत्तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४०॥

सायं और प्रातःकाल की दोनों सन्धियों में सोनेवाले व्यक्ति को जो पाप लगता है वही पाप उस व्यक्ति को लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन में गये हैं।

यदग्निदायके पापं यत्पापं गुरुतल्पगे।
मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम्॥ ४१॥

आग लगनेवाले, गुरु-स्त्रीगामी और मित्रद्रोही को जो पाप लगता है वही पाप उस नीच को लगे जिसकी सम्मति से आर्य राम वन में गये हों।

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च।
मा स्म कार्षीत्स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४२॥

जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों उसे विद्वान्, रक्षक और माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा का जो पुण्य प्राप्त होता है वह प्राप्त न हो। अथवा माता-पिता आदि की सेवा न करनेवाले को जो पाप लगता है राम को वन में भेजनेवाले को भी वही पाप लगे।

सतां लोकात्सतां कीर्त्याः सञ्जुष्टात्कर्मणस्तथा।
भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४३॥

वह सज्जनों के समाज से, सज्जनों की कीर्ति और सत्कर्मों से एकदम च्युत हो जाए जिसकी सम्मति से आर्य राम वन गये हों।

अपास्य मातुशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम्।
दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४४॥

जिसके परामर्श से दीर्घबाहु और विशालवक्ष श्रीराम वन में गये हैं वह माता की सेवा से विमुख होकर अनर्थकारी कार्यों में प्रवृत्त हो, अर्थात् उसे मातृ-सेवा विमुख होने तथा अधर्म कार्यों में रत होने का पाप लगे।

बहुपुत्रो[2] दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः।
स भूयात्सततं क्लेशी यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४५॥

जिसकी सम्मति से आर्य राम वन में गये हैं वह

---

१. वेद में कहा है—

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे।

—अथर्व० ७।१३।२

एक वैदिक वीर गर्जना करते हुए कहता है—मैं अपने शत्रुओं के तेज को ऐसे ही खींच लेता हूँ जैसे उदय होता हुआ सूर्य उस समय सोनेवालों के तेज का हरण कर लेता है।

महर्षि मनु ने कहा है—

नाश्नीयात्सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत्।

—मनु० ४।५५

सन्ध्याकाल में भोजन, शयन और यात्रा न करें।

क्यों? इसका उत्तर वृद्ध चाणक्य ने दिया है—

कुचेलिनं दन्तमलोपधारिणं
बह्वाशिनं निष्ठुरवाक्यभाषिणम्।
सूर्योदये ह्यस्तमयेऽपि शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

—चा० नीति० १५।४

मैले वस्त्र पहननेवाला, जिसके दाँत मैले हैं, जो बहुत अधिक खानेवाला है, जो कठोर बोलनेवाला है, जो सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोता है ऐसे व्यक्ति को लक्ष्मी छोड़ देती है चाहे वह विष्णु ही क्यों न हो।

२. वेद में कहा है—

बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश। —ऋ० १।१६४।३२

बहुत सन्तानवाले बहुत दुःख उठाते हैं।

बहुत सन्तानवाला और दरिद्र हो, वह ज्वर रोग से ग्रस्त होकर अत्यधिक क्लेश को प्राप्त हो।

आशामाशंसमानानां दीनानामूर्ध्वचक्षुषाम्।
अर्थिनां वितथां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४६॥

जो पाप कुछ प्राप्ति की आशा से प्रशंसा करनेवाले दीनों तथा ऊपर दृष्टि किये हुए भिक्षुकों की आशाओं[१] पर तुषारापात करने से होता है, वही पाप उस व्यक्ति को लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों।

मायया रमतां नित्यं पुरुषः पिशुनोऽशुचिः।
राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४७॥

जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हों वह व्यक्ति कपट-प्रिय, चुगलखोर=इधर-की-उधर लगानेवाला, बेईमान और अधर्मी हो तथा सदा राजभय से त्रस्त रहे।

ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम्।
अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४८॥

जिसके परामर्श से आर्य राम वन गये हों उस दुष्टात्मा को वह पाप लगे जो ऋतुस्नात, पतिव्रता, ऋतुकाल में पति की कामना करनेवाली स्त्री को रतिदान न देनेवाले पुरुष को लगता है।

धर्मदारान् परित्यज्य परदारान्निषेवताम्।
त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४९॥

आर्य राम जिसकी अनुमति से वन में गये हों उस मूढ़ को वही पाप लगे जो उस दुष्ट को लगता है जो पाणिगृहीत पत्नी को छोड़ तथा धर्मानुकूल रति का त्याग करके परस्त्री का सेवन करता है।

विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत्।
तदेव प्रतिपद्येत यस्यार्योनुमते गतः॥ ५०॥

जिसकी सम्मति से आर्य राम वन गये हैं उसे वह पाप लगे जो उस ब्राह्मण को लगता है जिसके पुत्र भूख से बिलबिला कर मर जाएँ और वह उनका पालन न कर सके।

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके।
यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ५१॥

पेय जल को दूषित करनेवाले तथा विष देनेवाले को जो पाप लगता है, वह अकेला ही उस पाप को प्राप्त हो जिसके परामर्श से आर्य राम वन गये हों।

ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः।
बालवत्सां च गां दोग्धुर्यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ५२॥

ब्राह्मण के होनेवाले सत्कार में विघ्न डालनेवाले और छोटे बछड़ेवाली गौ का दूध दुहनेवाले को जो पाप होता है वही पाप उसे लगे जिसकी अनुमति से आर्य राम वन गये हैं।

तृषार्तं सति पानीये विप्रलम्भेन योजयेत्।
लभेत तस्य यत्पापं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ५३॥

पानी होने पर भी प्यासे व्यक्ति को बहाना बनाकर टाल देनेवाले पुरुष को जो पाप लगता है वही पाप उसे लगे जिसके परामर्श से आर्य राम वन गये हैं।

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः।
तस्य पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ५४॥

एक-दूसरे को जीतने के उद्देश्य से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त दो विद्वानों का मध्यस्थ बन, पक्षपात से प्रेरित हो, अपने प्रियजन का पक्षपात करनेवाले को जो पाप लगता है वही पाप उसे लगे जिसकी सम्मति से आर्य राम वन गये हैं।

विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः।
एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तो निपपात ह॥ ५५॥

पति तथा पुत्र से विहीन माता कौसल्या को इस प्रकार आश्वासन देते हुए राजपुत्र भरत दुःखी होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

तथा तु शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम्।
भरतं शोकसन्तप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत्॥ ५६॥

तब कष्टकारी शपथों को लेनेवाले, शोक से सन्तप्त

---

१. वेद का आदेश है—
पृणीयादिन्नाधमानाय। —ऋ० १०।११७।५
याचक की कामना पूरी करनी ही चाहिए।

और चेतनाहीन भरत से कौसल्या बोली—

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे॥ ५७॥

हे पुत्र! तुम्हारी शपथों से मेरा यह दुःख और अधिक बढ़ रहा है। शपथ लेते हुए तुम मेरे प्राणों को अवरुद्ध कर रहे हो।

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्षणः।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि॥ ५८॥

हे वत्स! यह सौभाग्य की बात है कि तुम्हारा शुभ लक्षणयुक्त अन्तरात्मा धर्म से विचलित नहीं हुआ। तुम सत्यप्रतिज्ञ हो, अतः तुम सज्जनों के पद को प्राप्त करोगे।

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता॥ ५९॥

यह कहकर महाबाहु भ्रातृवत्सल भरत को गोद में ले और हृदय से लगा महारानी कौसल्या दुःखपूर्वक रोने लगीं।

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः।
मोहाच्च शोकसंरोधाद्बभूव लुलितं मनः॥ ६०॥

उधर इस प्रकार विलाप करते हुए दुःख-पीड़ित महात्मा भरत का मन मोह एवं शोकोद्वेग के कारण विह्वल हो उठा।

❮ नवपञ्चाशः सर्गः ❯ (५९)

दशरथ का अन्त्येष्टि-संस्कार—

तमेवं शोकसन्तप्तं भरतं कैकेयीसुतम्।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः॥ १॥

भरतजी को इस प्रकार शोकसन्तप्त देखकर बोलनेवालों में श्रेष्ठ, सुवक्ता महर्षि वसिष्ठ यह उत्तम वचन बोले—

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम्॥ २॥

हे परमयशस्वी राजपुत्र! तुम्हारा कल्याण हो। अब शोक समाप्त करो। अब समय हो चुका है, अतः महाराज की महायात्रा की तैयारी करो।

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि कारयामास धर्मवित्॥ ३॥

पृथिवी पर पड़े हुए धर्मात्मा भरतजी ने वसिष्ठजी का वचन सुन, मन्त्रियों द्वारा महाराज की अन्त्येष्टि का सम्पूर्ण प्रबन्ध कराया।

उद्धृतं तैलसंरोधात्स तु भूमौ निवेशितम्।
आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूपतिम्॥ ४॥

महाराज के मृतशरीर को तेल-पात्र से निकाल कर भूमि पर रखा गया। तेल में पड़े रहने के कारण उनका शरीर पीला पड़ गया था तथापि ऐसा जान पड़ता था कि वे गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं।

शिबिकायामथारोप्य नानारत्नपरिष्कृते।
बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूहुः परिचारिकाः॥ ५॥

तदनन्तर महाराज के शव को रत्नजटित पालकी में रखकर, अत्यन्त उदास और रोते हुए परिचारकगण उस पालकी को उठाकर ले चले।

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च।
प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः॥ ६॥

लोग महाराज के शव के आगे-आगे स्वर्ण, चाँदी तथा उत्तम वस्त्रों को लुटाते जाते थे।

चन्दनागरुनिर्यासान्सरलं पद्मकं तथा।
देवदारूणि चाहृत्य चितां चक्रुस्तथापरे॥ ७॥

(श्मशान में पहुँचकर) चन्दन, अगर, गुग्गुल, सरल, पद्मक तथा देवदारु आदि सामग्रियों द्वारा लोगों ने चिता का निर्माण किया।

ततः संवेशयामासुश्चितामध्येऽथ भूमिपम्।
तथा हुताशनं दत्वा जेपुस्तस्य तमृत्विजः॥ ८॥

तदनन्तर महाराज दशरथ के शव को चिता पर रखकर ऋत्विज् लोगों ने मन्त्रपूर्वक प्रेत्याग्नि में आहुतियाँ दीं।

शिबिकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः।
नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तदा॥ ९॥

महाराज की शोकसन्तप्त सब रानियाँ भी यथा-योग्य पालकी तथा रथ आदि यानों में बैठ वृद्ध रक्षकों के साथ नगर के बाहर चिता-स्थल पर पहुँचीं।

प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम्।
स्त्रियश्च शोकसन्तप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा॥ १०॥

फिर ऋत्विजों और कौसल्या आदि रानियों ने अत्यन्त शोक-सन्तप्त होकर महाराज की प्रज्ज्वलित चिता की प्रदक्षिणा की।

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः।
यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्वराङ्गनाः॥ ११॥

तदनन्तर विवशतापूर्वक रोती हुई और विलाप करती हुई वे सब रानियाँ अपने-अपने यानों द्वारा सरयू के तट पर जाकर उतरीं।

कृतोदकं ते भरतेन सार्धं
नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा
भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम्॥ १२॥

भरत के साथ मन्त्री, पुरोहित और रानियों ने सरयू नदी में स्नान किया। स्नान से निवृत्त हो सब लोग आँखों से आँसू बहाते हुए नगर में प्रविष्ट हुए तथा व्रतपूर्वक भूमि पर शयन करते हुए दस दिन तक राजकीय शोक मनाया।

ततःप्रभातसमये दिवसेऽथ त्रयोदशे।
वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह॥ १३॥

तेरहवें दिन प्रभात वेला में वसिष्ठजी भरत को उठाकर कहने लगे—

त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य ते विभो।
सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे॥ १४॥

हे विभो! तुम्हारे पिताजी की अन्त्येष्टि का यह तेरहवाँ दिन है, अतः अब भस्म सहित अस्थि संचयन करने में देर क्यों कर रहे हो?

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः।
तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवतुमर्हसि॥ १५॥

सभी मनुष्यों में तीन द्वन्द्व [भूख-प्यास, दुःख-सुख और जन्म-मरण] सामान्य रूप से लगे हुए हैं। इनको दूर करना सम्भव नहीं, अतः तुम्हें इस प्रकार दुःखी नहीं होना चाहिए।

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च।
श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ॥ १६॥

[इधर वसिष्ठजी ने भरत को इस प्रकर समझाया और उधर] तत्त्वज्ञ सुमन्त्र ने शत्रुघ्न को उठाकर उन्हें धैर्य एवं सान्त्वना प्रदान करते हुए प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश का रहस्य समझाया।

उत्थितौ च नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ।
वर्षातपपरिक्लिन्नौ पृथगिन्द्रध्वजाविव॥ १७॥

पुरुषसिंह एवं यशस्वी जब वे दोनों भाई उठकर खड़े हुए तब वे ऐसे जान पड़ते थे मानो वर्षा और धूप के कारण मुर्झाई हुई दो इन्द्रध्वजाएँ अलग-अलग खड़ी हों।

➤ षष्टितमः सर्गः ➤ (६०)

कुब्जा को घसीटना—

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।
भरतं शोकसन्तप्तमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

पिता के अन्त्येष्टि-कृत्य के पश्चात् लक्ष्मण-अनुज शत्रुघ्न शोकसन्तप्त तथा राम के पास जाने के इच्छुक भाई भरत के पास आकर बोले—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥ २॥

भाई! जो राम दुःख और संकट में प्राणिमात्र के आश्रय हैं और सामर्थ्ययुक्त हैं—जब वे ही स्त्रीसहित वन में निकाल दिये गये तब हमारे दुःखों की तो बात ही क्या है।

बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यासौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥ ३॥

[यदि राम ने उस समय संकोचवश कुछ नहीं कहा तो] बलवान् और पराक्रमी लक्ष्मणजी ने पिताजी को बन्दी बनाकर श्रीराम को क्यों नहीं बचाया?

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः॥ ४॥

जब महाराज स्त्री के वशवर्ती होकर अन्याय करने के लिए उद्यत हुए थे तब लक्ष्मण को उचित था कि नीति और अनीति का विचार छोड़ महाराज को पहले ही बन्दी बना लेते।

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे।
प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता॥ ५॥

शत्रुघ्न इस प्रकार भरत से वार्तालाप कर ही रहे थे कि मूल्यवान् अलंकारों से अलंकृत कुबड़ी मन्थरा पूर्व द्वार पर दीख पड़ी।

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्थो भृंश पापस्य कारिणीम्।
गृहीत्वाऽकरुणां कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयन्॥ ६॥

उस समय उस महापापिन मन्थरा को देख, द्वारपालों ने उसे निर्दयतापूर्वक पकड़कर शत्रुघ्न के सामने उपस्थित किया और बोले—

यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु यथामतिः॥ ७॥

हे शत्रुघ्न! जिसके कारण श्रीराम वनवासी और आपके पिता परलोकवासी हुए वह यही दयाहीन और पापिन मन्थरा है। आप जैसा उचित समझें इसके साथ वैसा व्यवहार करें।

एवमुक्तास्तु तेनाशु सखीजनसमावृता।
गृहीता बलवत्कुब्जा सा तद्गृहमनादयत्॥ ८॥

द्वारपालों के ऐसा कहने पर शत्रुघ्न ने सखियों से घिरी हुई उस कुब्जा को ऐसे जोर से पकड़ा कि उसके चीत्कार से सारा भवन निनादित हो उठा।

स च रोषेण ताम्राक्षः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं धरणीतले॥ ९॥

शत्रुओं का मान-मर्दन करनेवाले शत्रुघ्न लाल-लाल आँखें किये हुए चीत्कार करती हुई कुब्जा को भूमि पर पटककर इधर-उधर घसीटने लगे।

तां प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत्।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति॥ १०॥

शत्रुघ्न को कुपित देख भरत बोले—हे तात! प्राणिमात्र के लिए स्त्रियाँ अवध्य हैं, अतः तुम इसे क्षमा कर दो।

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन मातृघातकम्॥ ११॥

(यदि स्त्रियाँ अवध्य न होतीं और) धर्मात्मा राम मुझे मातृघाती समझकर मुझसे घृणा न करते तो मैं इस अक्षम्य अपराध करनेवाली दुष्टा कैकेयी को कभी का मार डालता।

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥ १२॥

यदि राम को कुब्जा के मारे जाने का पता चल गया तो वे धर्मात्मा हम दोनों से बात भी नहीं करेंगे।

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।
न्यवर्तत ततो रोषत्तां मुमोच च मन्थराम्॥ १३॥

भरत के इन वचनों को सुनकर लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने मन्थरा को छोड़ दिया।

एकषष्टितमः सर्गः (६१)

यात्रा के लिए मार्ग-शोधन—

ततः प्रभातसमये दिवसे च चतुर्दशे।
समेत्य राजकर्तारो **भरतं वाक्यमब्रुवन्॥ १॥**

चौदहवें दिन प्रात:काल सब मन्त्रिगण मिलकर भरतजी के पास आये और उनसे कहने लगे—

गतो दशरथः **स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः।**
रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम्॥ २॥

हमारे पूज्यों के भी पूज्य महाराज दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र राम और महाबलवान् लक्ष्मण को वन में भेजकर स्वयं स्वर्गवासी हो गये।

त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्रमहायशः।
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान्नरर्षभ॥ ३॥

हे महायशस्वी राजकुमार! अब तुम हमारे राजा बनो। आप अपना राज्याभिषेक करा कर हम सबका पालन करो।

भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः।
ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः॥ ४॥

तब व्रतधारी भरतजी उन सब लोगों से बोले—देखिए! हमारे कुल में सदा से ही ज्येष्ठ राजकुमार का राजसिंहासन पर बैठना उचित माना गया है।

नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः।
रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च॥ ५॥

आप जैसे कुशल एवं व्यक्तियों को मुझे आदेश नहीं देना चाहिए। श्रीराम हमारे ज्येष्ठ भ्राता हैं। वे ही हमारे सम्राट् होंगे। उनके स्थान में मैं चौदह वर्ष वनवास करूँगा।

युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला।
आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात्॥ ६॥

आप लोग महती चतुरङ्गिणी (अश्व, गज, रथ, पैदल) सेना तैयार करें। मैं रघुकुल-शिरोमणि ज्येष्ठ भ्राता राम को लौटा लाऊँगा।

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमानि च।
रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः॥ ७॥

मैं आज्ञा देता हूँ कि सड़कों की मरम्मत करनेवाले कारीगर लोग आगे जाकर ऊँची-नीची भूमिवाले मार्ग को ठीक करें। उनके पीछे रक्षक और दुर्गम मार्ग के शोधक भी जाएँ।

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः।
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात्संप्रतस्थिरे॥ ८॥

भरतजी की आज्ञानुसार भूमि प्रदेश के जाननेवाले, भूमि के नापतौल करने में दक्ष लोग फावड़े, कुदाल आदि उपयोगी सामान लेकर आगे-आगे चले।

लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च।
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् द्रुमान्॥ ९॥

ये लोग मार्ग को ठीक करने के अभिप्राय से लता, वल्ली, झाड़, ठूँठ, पत्थर और अनेक प्रकार के वृक्षों को जो मार्ग में पड़ते थे, कूट-काटकर रास्ता बनाते जाते थे।

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद्वृक्षानरोपयन्।
केचित्कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन् क्वचित्क्वचित्॥ १०॥

जिस प्रदेश में वृक्ष नहीं थे वहाँ पर उन लोगों ने वृक्ष लगाये और कहीं कुल्हाड़ियों से वृक्षों को काटा, कहीं-कहीं टाँकियों से पत्थरों को तोड़ा और कहीं हँसुओं से लताओं को काटा।

अपरे वीरणस्तम्बान् बलिनो बलवत्तराः।
विधमन्ति स्म दुर्गाणि स्थलानि च ततस्ततः॥ ११॥

कुछ लोगों ने अत्यन्त दृढ़ ठूँठों को जो उखाड़े नहीं उखड़ सकते थे, जलाकर साफ कर दिया और जितने ऊँचे-नीचे मार्ग और दुर्गम स्थान थे उन सबको ठोक-पीटकर तथा मिट्टी से पाटकर समतल कर दिया।

अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः श्वभ्रमायतम्।
निम्नभागांस्ततः केचित्समांश्चक्रुः समन्ततः॥ १२॥

कुछ लोग मार्ग में आनेवाले कूपों और गड्ढों को मिट्टी से पाटते और नीची भूमि को मिट्टी से भरकर बराबर करते चले जाते थे।

ससुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः।
मत्तोद्घुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः॥ १३॥

उन शिल्पियों ने सेना के जाने के मार्ग को चूने की गचों से ठीक कर दिया। सड़क के इधर-उधर विकसित फूलोंवाले वृक्ष लगाये गये। सड़कों के दोनों और पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं और पक्षिगण मस्ती में आकर चहचहा रहे थे।

चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः।
बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः॥ १४॥

चन्दन के जल के छिड़काव और नाना प्रकार की फूली हुई लताओं से सेना का वह मार्ग देवमार्ग की भाँति शोभायमान था।

➤ द्विषष्टितमः सर्गः ➤ (६२)

भरत द्वारा राज्यग्रहण से इनकार—

ततो नन्दीमुखीं रात्रिं भरतं सूतमागधाः।
तुष्टुवुर्वाग्विशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंहितैः॥ १॥

जब वह नन्दीमुखी रात्रि (आनन्दमयी रात्रि, वह रात्रि जो किसी माङ्गलिक उत्सव से परिपूर्ण हो। इस रात्रि में श्रीराम को वन से लौटाने का उद्योग आरम्भ हुआ था) थोड़ी शेष रही तब राजवंश के स्तुति विशेषज्ञ सूत-मागध, मङ्गल-स्तवन के द्वारा भरतजी की स्तुति करने लगे।

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं सन्निवर्त्य च।
नाहं राजेति चाप्युक्त्वा शत्रुघ्नमिदमब्रवीत्॥ २॥

उस स्तवन को सुन भरत जागे और यह कहकर कि ''मैं राजा नहीं हूँ'' उन्होंने उस स्तुतिघोष को बन्द करवाया, फिर वे शत्रुघ्न से बोले—

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत्।
विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः॥ ३॥

हे शत्रुघ्न! देखो! कैकेयी ने संसार का कैसा भीषण अपकार किया है और महाराज दशरथ भी मुझ पर महान् दुःखों का भार छोड़कर स्वर्गवासी हो गये।

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः।
परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले॥ ४॥

उन महात्मा धर्मराज की यह धर्ममूलक राजलक्ष्मी इस समय जल में नाविक-विहीन नौका के समान इधर-उधर मारी-मारी फिर रही है।

यो हि नः सुमहान्नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वनम्।
अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम्॥ ५॥

जो मेरे श्रेष्ठ रक्षक और अवलम्ब राम थे, धर्म का त्याग करनेवाली इस माता कैकेयी ने उस रघुकुलभूषण को वन में भिजवा दिया।

तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित्।
सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः॥ ६॥

इधर भरतजी इस प्रकार विलाप कर रहे थे उधर राजधर्म के ज्ञाता महामुनि वसिष्ठ ने महाराज दशरथ के सभाभवन में प्रवेश किया।

स काञ्चनमयं पीठं परार्ध्यास्तरणावृतम्।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च॥ ७॥

वेदज्ञ, महामुनि वसिष्ठ गुदगुदे आसन से युक्त एक स्वर्णमय सिंहासन पर जा बैठे और दूतों को आदेश दिया—

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यानमात्यान् गणवल्लभान्।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः॥ ८॥

तुम लोग बहुत शीघ्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, राजभक्त मन्त्रियों और सेनापतियों को बुला लाओ,

क्योंकि एक अत्यन्त आवश्यक कार्य करना है।

स राजभृत्यं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः॥ ९॥

यशस्वी भरत और शत्रुघ्न को उनके निजी सेवकों सहित, युधाजित् और सुमन्त्र आदि मन्त्रियों को तथा अन्य जो राजपरिवार के हितैषी हैं, उन सबको बुला लाओ।

ततो हलहलाशब्दः सुमहान् समपद्यत।
रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम्॥ १०॥

कुछ ही देर में दूतों द्वारा बुलाये गये लोग रथों, घोड़ों और हाथियों पर सवार होकर आने लगे। उस समय महान् कोलाहलपूर्ण शब्द हुआ।

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः।
प्रत्यनन्दन् प्रकृतयो यथा दशरथं तथा॥ ११॥

जिस प्रकार देवमण्डल इन्द्र को देख हर्षपूर्वक उसका सम्मान करते हैं उसी प्रकार भरत को सभा में प्रविष्ट होते देख अयोध्या की सम्पूर्ण जनता ने उनका सत्कार करते हुए ऐसी प्रसन्नता प्रकट की मानो वे महाराज दशरथ के सभाप्रवेश पर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हों।

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत्॥ १२॥

जब वे श्रेष्ठ लोग यथायोग्य अपने-अपने आसनों पर बैठ गये तब राजपुरोहित वसिष्ठजी ने ये मधुर वचन कहे—

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन्।
धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव॥ १३॥

हे तात भरत! धर्माचरण करते हुए महाराज दशरथ धन-धान्ययुक्त और समृद्धिशालिनी पृथिवी का राज्य तुम्हें देकर स्वर्गवासी हो गये।

रामस्तथा सत्यधृतिः सतां धर्ममनुस्मरन्।
नाजहात्पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः॥ १४॥

सत्यव्रतधारी राम ने सज्जनों के पथ का अनुसरण करते हुए पितृ-वचन-पालनरूपी धर्म का त्याग वैसे ही नहीं किया जैसे चन्द्रमा अपनी चाँदनी का त्याग नहीं करता।

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम्।
तद्भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय॥ १५॥

पिता और भाई द्वारा प्रदत्त इस निष्कण्टक राज्य का तुम भोग करो और मन्त्रिमण्डल को प्रसन्न करते हुए शीघ्र ही अपना राज्याभिषेक कराओ।

तत् श्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः।
जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया॥ १६॥

गुरु वसिष्ठ के ये वचन सुन धर्मात्मा भरत बहुत दुःखी हुए। अपनी कुल-परम्परा (ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता है) को जाननेवाले भरतजी ने अपने कर्त्तव्य निश्चय की आकांक्षा से अपने अग्रज श्रीराम का स्मरण किया।

सबाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्॥ १७॥

उस समय तरुण भरत कलहंस-स्वर के समान घर-घर शब्दों में विलाप करने लगे और सभा में वसिष्ठजी की इन बातों की निन्दा करने लगे।

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत्॥ १८॥

भरतजी ने कहा—ब्रह्मचर्यपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन कर स्नातकपद प्राप्त तथा धर्मानुकूल आचरण करनेवाले, बुद्धि के अगाध सागर श्रीराम के राज्य को मेरे जैसा शास्त्र के मत को जाननेवाला कैसे छीन सकता है?

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः॥ १९॥

आपके कथनानुसार यदि मैं इस राज्य को ग्रहण कर अनार्यों से सेवित और सुख-शान्ति से वञ्चित करनेवाले महापातक को करूँ तो मैं इक्ष्वाकुकुल की धवल कीर्ति को कलंकित करनेवाला कुलदूषक समझा जाऊँगा।

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
हर्षान् मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः॥ २०॥

भरत के इस धर्मानुकूल वचन को सुनकर, राम से प्रेम करनेवाले जितने सभासद् वहाँ उपस्थित थे उनकी आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे।

सर्वोपायं च वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं वनात्।
यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि वने तत्रैव वत्स्यामि॥ २१॥

भरतजी ने आगे कहा—मैं श्रीराम को लौटाने के लिए सब प्रकार के उपाय करूँगा, फिर भी यदि राम को न लौटा सका तो मैं भी वन में ही वास करूँगा।

विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकतक्षकाः।
प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्राऽपि मम रोचते॥ २२॥

मैंने पहले ही अवैतनिक तथा पारिश्रमिक लेकर काम करनवाले चतुर मार्गशोधकों और बढ़इयों को मार्ग ठीक करने के लिए भेज दिया है। अब स्वयं राम के पास जाने के लिए यात्रा करनेवाला हूँ।

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम्॥ २३॥

ऐसा कहकर भ्रातृवत्सल एवं धर्मात्मा भरत ने सम्मति देनेवालों में श्रेष्ठ, पास ही बैठे हुए सुमन्त्र से यह कहा—

तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात्।
यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय॥ २४॥

हे सुमन्त्र! मेरी आज्ञा से तुम शीघ्र यहाँ से जाओ और सारे नगर में मेरी यात्रा की घोषणा कर दो और सेना को भी चलने का आदेश दो।

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना।
प्रहृष्टः सोऽदिशत्सर्वं तथा संदिष्टमिष्टवत्॥ २५॥

महात्मा भरत की आज्ञा पा सुमन्त्र ने प्रसन्न हो यथा निर्देश सभी कार्य कर दिये।

➤ त्रिषष्टितमः सर्गः ➤ (६३)

भरत का वन को प्रस्थान और गुह से भेंट—

ततः समुत्थितः काल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम्।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाङ्क्षया॥ १॥

दूसरे दिन प्रात:काल होते ही राजकुमार भरत ने सुन्दर रथ पर आरूढ़ होकर राम के दर्शन की अभिलाषा से वन की ओर प्रस्थान किया।

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोधसः।
अधिरुह्य हयैर्युक्तान् रथान् सूर्यरथोपमाम्॥ २॥

भरतजी के रथ के आगे-आगे मन्त्री और पुरोहितवर्ग सूर्य के समान देदीप्यमान, उत्तम घोड़ों से युक्त रथों पर बैठकर चला।

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी।
रामानयनसंहृष्टा ययुर्यानेन भास्वता॥ ३॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौसल्या श्रीराम को लौटाने के लिए प्रसन्न हो परम दीप्तिमान रथों पर चढ़कर चलीं।

प्रयाताश्चार्यसङ्घाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम्।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः॥ ४॥

श्रेष्ठ पुरुषों के झुण्ड-के-झुण्ड राम और लक्ष्मण के दर्शन करने के लिए निकल पड़े। मार्ग में वे लोग श्रीराम की चित्र-विचित्र कथाओं का वर्णन कहते-सुनते और प्रसन्न होते हुए चले जाते थे।

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः।
समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गबेरपुरं प्रतिः॥ ५॥
यत्र रामसखो वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन्॥ ६॥

रथ, घोड़े, हाथी और अन्य सवारियों के द्वारा बहुत दूर चलने के पश्चात् ये लोग शृङ्गबेरपुर के पास गङ्गा के तट पर पहुँचे, जहाँ पर अपने बन्धु-बान्धवों से युक्त राम का परममित्र वीर निषाद-राज सावधानी के साथ उस देश का पालन करता हुआ

निवास करता था।

निरीक्ष्यानुगतां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम्।
भरतः सचिवान् सर्वानब्रवीद्वाक्यकोविदः॥ ७॥

अपने पीछे चलनेवाली सेना को तथा निर्मल जलवाली गङ्गा को निहार कर बोलने में चतुर भरतजी मन्त्रियों से बोले—

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इदानीमिमां नदीम्॥ ८॥

मेरे सैनिक लोग अपनी रुचि-अनुसार इस क्षेत्र में जो-जो स्थान पसन्द करें उन्हें वहाँ-वहाँ ठहरा दो। आज यहीं विश्राम कर कल हम इस नदी को पार करेंगे।

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः।
न्यवेशयंस्तांश्छन्देन स्वेन स्वेन पृथक् पृथक्॥ ९॥

भरतजी के ऐसा कहने पर सब मन्त्रियों ने "जो आज्ञा" कहकर बड़ी सावधानी से सब लोगों को उनकी इच्छा के अनुकूल पृथक्-पृथक् स्थानों पर ठहरा दिया।

ततो निविष्टां ध्वजिनीं गङ्गामन्वाश्रितां नदीम्।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन् सन्त्वरितोऽब्रवीत्॥ १०॥

भरतजी की चतुरङ्गिणी सेना को गङ्गा के तट पर टिकी हुई देख निषादराज गुह शङ्कित होकर अपनी जातिवालों से बोले—

महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते।
भरतः कैकेयीपुत्रो किं हन्तु रामं गच्छति॥ ११॥

यह बड़ी सेना समुद्र के समान विशाल दिखाई दे रही है। तो क्या इतनी बड़ी सेना को लेकर कैकेयी का पुत्र भरत श्रीराम का वध करने के उद्देश्य से जा रहा है?

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम।
तस्यार्थकामाः सन्नद्धा गङ्गानूपे प्रतिष्ठत॥ १२॥

दशरथनन्दन श्रीराम मेरे स्वामी, सखा और सभी कुछ हैं, अतः तुम सब लोग श्रीराम की रक्षा के लिए कवच आदि पहनकर और हथियार लेकर गङ्गा के कछार में तैयार रहो।

यदा तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति।
सेयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति॥ १३॥

यदि भरतजी श्रीराम के प्रति शुद्धान्तःकरण के साथ प्रसन्न प्रतीत होगा तभी वह और उसकी सेना सकुशल गङ्गा को पार कर सकेगी।

इत्युक्त्वोपायनं गृह्य ज्ञातिभिः परिवारितः।
आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत्॥ १४॥

अपने सैनिकों को यह आदेश देकर और अनेक प्रकार की भेंट लेकर अपनी जाति-बिरादरीवालों के साथ गुह भरतजी के पास जा और प्रसन्न होकर बोला—

निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम्।
निवेदयामस्ते सर्वे स्वके दासकुले वस॥ १५॥

हे प्रभो! यह देश आपके लिए नगर के पास घूमने के लिए वाटिका के समान है। आपने अपने आने की सूचना हमें नहीं दी, अतः आपका यथाविधि स्वागत करने से हम वञ्चित रहे। यह सम्पूर्ण राज्य आपका है और हम लोग आपके सेवक हैं। आप इसे अपना घर समझ कर यहाँ निवास करें।

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम्॥ १६॥

ऐसी प्रार्थना करने पर निषादराज गुह से महाबुद्धिमान् भरत ने अपनी अभिप्राय-सिद्धि के लिए यह युक्तियुक्त वचन कहा—

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे।
यो मे त्वमीदृशीं सेनामेकोऽभ्यर्चितुमिच्छसि॥ १७॥

मेरे ज्येष्ठ भ्राता के मित्र! आप अकेले ही मेरी इतनी विशाल सेना का आतिथ्य करना चाहते हो यह आपका बड़ा उदार विचार है। आपकी उदारता से आपका मनोरथ पूर्ण हो गया, अर्थात् आपकी उदारता से ही हमारा सत्कार हो गया।

कतरेण गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं गुह।
गहनोऽयं भृशं देशो गङ्गानूपो दुरत्ययः॥ १८॥

हे निषादराज! हमें यह बतलाइए कि हम लोग किस मार्ग से भरद्वाज के आश्रम को जाएँ, क्योंकि यह देश दुष्प्रवेश्य दिखाई पड़ता है और गङ्गा का जलप्राय देश भी दुर्गम प्रतीत होता है।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं गुहो गहनगोचरः॥ १९॥

बुद्धिमान्, राजकुमार भरत की इस बात को सुनकर, सब दुर्गम स्थानों से भली प्रकार परिचित गुह हाथ जोड़कर बोला—

दाशास्त्वानुगमिष्यन्ति धन्विनः सुसमाहिताः।
अहं त्वानुगमिष्यामि राजपुत्र महायशः॥ २०॥

हे महायशस्वी राजकुमार! आप इसके लिए चिन्तित न हों। इस भूमि के प्रत्येक स्थान से सुपरिचित धनुर्धारी दाश लोग सावधानतापूर्वक आपके साथ जायेंगे और मैं स्वयं भी आपके पीछे-पीछे चलूँगा।

परं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे।
कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥ २१॥

परन्तु आपकी इस विशाल सेना को देखकर मेरे मन में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि कहीं आप उदारचरित राम के पास किसी दुष्ट अभिप्राय से तो नहीं जा रहे हैं।

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः।
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत्॥ २२॥

इस प्रकार की आशंका करने पर, आकाश की भाँति निर्मल स्वभाव भरत निषादराज से ये मधुर वचन बोले—

मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः॥ २३॥

हे निषादराज! तुम जैसी आशंका करते हो वह कष्टमय पापपूर्ण समय न आवे। आप मेरे प्रति ऐसी घृणित आशंका न करें। मैं तो अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम को अपने पिता के तुल्य मानता हूँ।

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम्।
बुद्धिरन्या न ते कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते॥ २४॥

हे गुह! मैं तो वनवासी राम को लौटाने के लिए जा रहा हूँ। इस सम्बन्ध में आप व्यर्थ का अनिष्ट सन्देह न करें। यह बात मैं सत्य ही कह रहा हूँ।

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम्।
पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः॥ २५॥

भरतजी की यह बात सुन निषादराज गद्गद हो गया और प्रसन्न होकर भरतजी से कहने लगा—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥ २६॥

हे भरत! आप धन्य हैं। मुझे इस धराधाम पर आपके समान कोई दूसरा व्यक्ति दिखाई नहीं देता, क्योंकि आप बिना परिश्रम के प्राप्त धन-धान्यपूर्ण विशाल राज्य को त्यागना चाहते हो।

शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननु चरिष्यति।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि॥ २७॥

आप महान् कष्ट में पड़े हुए श्रीराम को लौटाने जा रहे हैं, आपके इस शुभ कार्य से आपकी उज्ज्वल कीर्ति चिरकाल तक संसार में व्याप्त रहेगी।

एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा।
बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत॥ २८॥

इस प्रकार गुह और भरत के परस्पर वार्त्तालाप करते हुए सूर्यास्त हो गया और रात्रि उपस्थित हो गई।

सन्निवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः।
शत्रुघ्नेन सह श्रीमाञ्शयनं पुनरागमत्॥ २९॥

गुह की बातचीत से सन्तुष्ट होकर, अपनी सेना को विश्राम का आदेश देकर भरतजी अपने छोटे भाई शत्रुघ्न के साथ शयनीय स्थल पर सोने के लिए चले गये।

चतुःषष्टितमः सर्गः (६४)

भरत का गङ्गा के पार उतरना—

व्युष्य रात्रिं तु तत्रैव गङ्गाकूले स राघवः।
भरतः काल्यमुत्थाय निषादराजमब्रवीत्॥ १॥

रघुकुलोत्पन्न भरतजी ने गङ्गा के किनारे उसी स्थान पर जहाँ श्रीराम ने विश्राम किया था रात्रि व्यतीत की और प्रातःकाल उठकर निषादराज गुह से बोले—

सुखा नः शर्वरी राजन् पूजिताश्चापि ते वयम्।
गङ्गां तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः सन्तारयन्तु नः॥ २॥

हे राजन्! हमारी यह रात्रि सुखपूर्वक व्यतीत हुई और आपने हमारा आदर-सत्कार भी भली-भाँति किया। अब आप अपने नाविकों को आदेश दें कि वे बहुत-सी नौकाओं द्वारा हमें पार उतार दें।

ततो गुहः सन्त्वरितं श्रुत्वा भरतशासनम्।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत्॥ ३॥

भरतजी का आदेश पाकर गुह ने शीघ्रता से अपने नगर में प्रवेश किया और अपनी जाति-वालों से कहा—

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु च वः सदा।
नावः समनुकर्षध्वं तारयिष्याम वाहिनीम्॥ ४॥

हे भाइयो! उठो, जागो! आपका कल्याण हो। नौकाओं को शीघ्र किनारे पर ले आओ, सेना को पार उतारना है।

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात्।
पञ्च नावां शतान्याशु समानिन्युः समन्ततः॥ ५॥

निषादराज की आज्ञा पाकर नाविक लोग उठ खड़े हुए और अपने राजा के आदेशानुसार उन लोगों ने इधर-उधर से जोड़कर पाँच सौ नौकाएँ लाकर घाट पर लगा दीं।

अन्याः स्वस्तिक विज्ञेया महाघण्टाधरा वराः।
शोभमानाः पताकाभिर्युक्तवाताः सुसंहताः॥ ६॥

इन नौकाओं के अतिरिक्त 'स्वस्तिक' नामवाली नौकाएँ भी लाई गईं। इन नौकाओं में घण्टे बँधे हुए थे, पताकाएँ शोभायमान थीं। वायु आने-जाने के लिए स्थान था और इनके सब बन्धन बड़े दृढ़ थे।

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम्।
सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत्॥ ७॥

उन स्वस्तिक नौकाओं में से एक 'कल्याणी' नामवाली विशिष्ट स्वस्तिक नौका को जिस पर सफेद ऊनी कालीन बिछे हुए थे, जिसके चलने पर घण्टियों का मधुर घोष होता था—गुह स्वयं लाया।

तमारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महायशः।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः॥ ८॥

उस नौका पर महायशस्वी भरत, शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा और राजपरिवार की अन्य स्त्रियाँ आरूढ़ हुईं।

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित्काश्चिच्च वाजिनाम्।
काश्चिदत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं महाधनम्॥ ९॥

कितनी ही नौकाओं में तो स्त्रियाँ-ही-स्त्रियाँ बैठी थीं और कितनी ही नावों में घोड़े-ही-घोड़े भरे थे। बहुत सारी नावों पर यानों में जोतनेवाले बहुमूल्य घोड़े, बैल, खच्चर भरे हुए थे।

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः।
वहन्त्यो जनमारूढं तदा सम्पेतुराशुगाः॥ १०॥

नाविकों से युक्त ध्वजा-पताकाओंवाली वे नौकाएँ भरत आदि नगरवासियों को लेकर बड़े वेग से आगे चल पड़ीं।

सा पुण्या ध्वजिनी गङ्गां दाशैः सन्तारिता स्वयम्।
मैत्रे मुहूर्त्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम्॥ ११॥

नाविकों ने उस पुण्य ध्वजा-पताकावाली विशाल वाहिनी को गङ्गा के उस पार उतार दिया। सूर्योदय के तीसरे प्रहर मैत्र नामक मुहूर्त में उस सेना ने प्रयाग वन की ओर प्रस्थान किया।

आश्वासयित्वा च चमूं महात्मा
निवेशयित्वा च यथोपजोषम्।
द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-
मृत्विग्वृतः सन् भरतः प्रतस्थे॥ १२॥

प्रयाग में पहुँचकर महामति भरत ने सम्पूर्ण सेना और नागरिकों को यथास्थान ठहरा दिया। तदनन्तर भरतजी वसिष्ठ आदि ऋषियों को साथ ले ऋषि श्रेष्ठ महर्षि भरद्वाज का दर्शन करने के लिए चल दिये।

पञ्चषष्टितमः सर्गः (६५)

भरद्वाजाश्रम में निवास—

भरद्वाजाश्रमं दृष्ट्वा क्रोशादेव नरर्षभः।
बलं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः॥ १॥
पद्भ्यामेव हि धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः।
वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोधसम्॥ २॥

धर्मज्ञ पुरुषोत्तम भरत महर्षि भरद्वाज के आश्रम से एक कोस के अन्तर पर सेना आदि को ठहराकर, अस्त्र-शस्त्र और राजसी पोशाक उतार कर, केवल दो वस्त्र धारण कर, कुछ मन्त्रियों को साथ ले और पुरोहितों को आगे कर पैदल ही भरद्वाज के दर्शन करने के लिए गये।

ततः सन्दर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः।
मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामनुपुरोहितम्॥ ३॥

जब भरतजी ने दूर से ही महर्षि भरद्वाज को देखा तब वे मन्त्रियों को भी पीछे छोड़ केवल पुरोहित के साथ आगे बढ़े।

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः।
सञ्चचालासनात्तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन्॥ ४॥

महातपस्वी भरद्वाज वसिष्ठजी को देखते ही तत्काल आसन से उठ खड़े हुए और शिष्यों को अर्घ्य लाने का आदेश दिया।

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः।
अबुध्यत महातेजाः सुतं दशरथस्य तम्॥ ५॥

महर्षि भरद्वाज आगे बढ़कर वसिष्ठजी से मिले। भरत ने भरद्वाज को प्रणाम किया। वसिष्ठ के सहचर्य से महातेजस्वी भरद्वाज ने जाना कि ये दशरथपुत्र भरत हैं।

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात् फलानि च।
आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले॥ ६॥

धर्मात्मा भरद्वाज ने उन दोनों को क्रमपूर्वक अर्घ्य, पाद्य और फल देकर उनके कुल का कुशलक्षेम पूछा।

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम्।
शरीरेऽग्निषु वृक्षेषु शिष्येषु मृगपक्षिषु॥ ७॥

तदनन्तर महर्षि वसिष्ठ और भरतजी ने मुनि भरद्वाज से उनके शरीर, यज्ञाग्नि, शिष्य और आश्रम के वृक्ष तथा पशु-पक्षियों का कुशल-मङ्गल पूछा।

तथेति तत्प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महातपाः।
भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात्॥ ८॥

महातपस्वी भरद्वाज ने सबका कुशल-मङ्गल बताकर श्रीराम के साथ स्नेह होने के कारण भरतजी से पूछा—

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं न हि मे शुध्यते मनः॥ ९॥

हे राजकुमार! तुम तो राज्य शासन कर रहे हो, फिर तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन? यह सब मुझे बतलाओ, क्योंकि मेरा मन शङ्कित हो रहा है। (मुझे दाल में कुछ काला दिखाई देता है।)

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह।
पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया॥ १०॥

भरद्वाज के ऐसा कहने पर भरतजी ने दुःख के कारण आँखों में आँसू भरकर तथा लड़खड़ाती हुई वाणी से कहा—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
मत्तो न दोषमाशङ्के नैवं मामनुशाधि हि॥ ११॥

भगवन्! आप भी मुझे ऐसा मानते हैं तो मेरा तो जीवन ही व्यर्थ है। भाई को वन भेजने में मेरा हाथ नहीं है, अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बातें न कहें।

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः।
प्रतिनेतुमयोध्यां च पादौ तस्याभिवन्दितुम्॥ १२॥

मैं तो उस नरकेसरी को प्रसन्न कर अयोध्या में लौटाने और उनकी चरण-वन्दना करने के लिए जा रहा हूँ।

त्वं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि।
शंस मे भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः॥ १३॥

भगवन्! मेरे मनोभिप्राय को जानकर आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे बताएँ कि पृथिवीनाथ राम इस समय कहाँ हैं।

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः।
उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्भरतं वचः॥ १४॥

तत्पश्चात् जब वसिष्ठ आदि ऋत्विजों ने भी भरद्वाज से श्रीराम का पता बतलाने की प्रार्थना की तब वे प्रसन्न होकर भरतजी से बोले—

त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे।
गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता॥ १५॥

हे पुरुषसिंह! तुम्हारा जन्म प्रसिद्ध रघुकुल में हुआ है, अतः वृद्धों की सेवा, इन्द्रियों का दमन और साधुजनों का अनुगामी होना—ये तीनों बातें तुममें होनी ही चाहिएँ।

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन्॥ १६॥

यद्यपि मैं तुम्हारे मनोगत भावों को जानता था तथापि लोगों के सामने उसे दृढ़ करने और तुम्हारी कीर्ति को बढ़ाने के लिए मैंने तुमसे वैसा प्रश्न पूछा था।

जाने च रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम्।
असौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ॥ १७॥

तुम्हारे भ्राता धर्मज्ञ श्रीराम सीता और लक्ष्मण-सहित इस समय चित्रकूट नामक महापर्वत पर निवास करते हैं।

श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः।
एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं कामार्थकोविद॥ १८॥

हे वांछित मनोरथों को पूरा करनेवाले बुद्धिमान् भरत! आप कल वहाँ जाना। आज मन्त्रियोंसहित यही निवास कीजिए। मेरी इस कामना को पूर्ण करो।

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः
प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद्वचः।
चकार बुद्धिं तदा तदाश्रमे
निशानिवासाय नराधिपात्मजः॥ १९॥

जब महर्षि भरद्वाज ने इस प्रकार कहा तब उदारमना एवं यशस्वी राजकुमार भरत ने ऋषि की आज्ञा मान रात भर ऋषि के आश्रम में रहना स्वीकार कर लिया।

◀ षट्षष्टितमः सर्गः ▶ (६६)

चित्रकूट के लिए प्रस्थान—

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः।
कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम ह॥ १॥

अपने परिवार और साथियों सहित भरद्वाज के आतिथ्य में वह रात्रि बिता प्रातः होते ही भरत राम-दर्शन की कामना से भरद्वाज के पास विदा माँगने गये।

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्राञ्जलिं प्रेक्ष्य चागतम्।
हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत॥ २॥

पुरुषसिंह भरत को हाथ जोड़े हुए अपने सामने खड़ा देख, यज्ञ समाप्त करने के पश्चात् मुनि भरद्वाज उनसे बोले—

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता।
समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ॥ ३॥

हे निष्पाप! मेरे आश्रम में आपकी रात्रि सुखपूर्वक तो व्यतीत हुई। आपके सब लोग मेरे आतिथ्य से सन्तुष्ट तो हैं।

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च।
सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः॥ ४॥

भरतजी हाथ जोड़कर और प्रणाम करके बोले— भगवन्! मैं अमात्यों और सेनासहित इस आश्रम में सुखपूर्वक रहा।

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम।
समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा॥ ५॥

हे ऋषि-श्रेष्ठ! मैं आपसे विदा होकर भाई राम के पास जा रहा हूँ। मुझ पर कृपा-दृष्टि रखना।

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः।
आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे॥ ६॥

हे धर्मज्ञ! कृपया यह बतलाइए कि महात्मा राम का आश्रम यहाँ से कितनी दूर है और वहाँ जाने के लिए सीधा और सरल मार्ग कौन-सा है?

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातृदर्शनलालसम्।
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः॥ ७॥

भाई के दर्शन के इच्छुक भरतजी के ऐसा पूछने पर महातेजस्वी एवं परम तपस्वी भरद्वाज बोले—

भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने।
चित्रकूटो गिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः॥ ८॥

हे भरत! यहाँ से ढाई योजन के अन्तर पर निर्जन प्रदेश में रमणीय गुफाओं तथा वनों से युक्त चित्रकूट नामक पर्वत है।

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी।
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना॥ ९॥

इस पर्वत के उत्तर की ओर मन्दाकिनी नदी बहती है। इस नदी के उभय तटों पर पुष्पित वृक्ष लगे हैं और यह नदी रमणीय पुष्पित वन में होकर बहती है।

अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटश्च पर्वतः।
तयोः पर्णकुटी तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम्॥ १०॥

हे तात! उसी से मिला हुआ चित्रकूट पर्वत है। उसी पर्वत पर तुम एक पर्णकुटी में दोनों भाइयों को निश्चय ही वास करते हुए पाओगे।

अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम्।
आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामित्यचोदयत्॥ ११॥

श्रीराम के निवास-स्थान को जानकर भरत ने महर्षि भरद्वाज का अभिवादन और प्रदक्षिणा करके तथा उनसे आज्ञा लेकर अपनी सेना को प्रस्थान करने का आदेश दिया।

ततो वाजिरथान्युक्त्वा दिव्यान्हेमपरिष्कृतान्।
अध्यारोहत्प्रयाणार्थी बहून् बहुविधो जनः॥ १२॥

भरतजी की आज्ञा पा प्रस्थान करनेवाले बहुविध लोग स्वर्ण से अलंकृत दिव्यों रथों में घोड़ों को जोड़कर उन पर आरूढ़ हो गये।

विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च।
प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरेव पदातयः॥ १३॥

विविध प्रकार के छोटे-बड़े बहुमूल्य रथादि यान और पैदल सेना भी चल पड़ी।

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः॥ १४॥

जब उस महासेना ने वन में होकर प्रस्थान किया तब वनवासी मतवाले यूथपति गजराज उद्विग्न एवं उन्मत्त होकर अपने-अपने समूहों के साथ इधर-उधर भागने लगे।

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः।
महीं संच्छादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः॥ १५॥

जिस प्रकार वर्षा-ऋतु में मेघमण्डल आकाश को ढक लेता है उसी प्रकार महात्मा भरत की सागर के समान विशाल सेना, लहरों की भाँति उमड़ती हुई, पृथिवी को आच्छादित करती चली जाती थी।

स गत्वा दूरमध्वानं सुपरिश्रान्तवाहनः।
उवाच भरतः श्रीमान्वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम्॥ १६॥

जब भरतजी यात्रा करते हुए बहुत दूर निकल गये तब वाहनों को थके हुए देखकर वे मन्त्रिश्रेष्ठ वसिष्ठजी से बोले—

यादृशं लक्ष्यते रूपं तथा चैव श्रुतं मया।
व्यक्तं प्राप्तः स्म तं देशं भरद्वाजोऽयमब्रवीत्॥ १७॥

इस स्थान का जैसा रङ्ग-रूप दिखाई पड़ रहा है और जैसा इसके विषय में मैंने सुना है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हम उस स्थान पर पहुँच गये हैं जो भरद्वाजजी ने बतलाया था।

अयं गिरिश्चित्रकूट इयं मन्दाकिनी नदी।
एतत्प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम्॥ १८॥

देखिए! यह चित्रकूट पर्वत है। यह मन्दाकिनी नदी है और यह वह वन है जो दूर से नीले मेघ की भाँति दिखाई देता है।

साधु सैन्याः प्रतिष्ठन्तां विचिन्वन्तु च काननम्।
यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ॥ १९॥

योग्य सैनिक वन में जायें और सावधानी से अन्वेषण करें जिससे वे पुरुषसिंह राम और लक्ष्मण दिखाई पड़ जावें।

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः।
विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं ददृशुस्ततः॥ २०॥

भरत की बात सुनकर हाथों में शस्त्र लिए हुए सैनिक लोग वन में प्रविष्ट हुए और कुछ ही दूर पर उन्होंने एक धूमशिखा देखी।

ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः।
नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ॥ २१॥

उस धूमशिखा को देख, उन लोगों ने लौटकर भरतजी से कहा—बिना मनुष्य के अग्नि नहीं होती, अतः राम-लक्ष्मण स्पष्टतः यहीं हैं।

तत् श्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम्।
सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः॥ २२॥

सैनिकों का यह शिष्टसम्मत वचन सुनकर शत्रुओं का मान मर्दन करनेवाले भरतजी ने उनसे कहा—

यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः।
अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो गुरुरेव च॥ २३॥

अच्छा, आप लोग शान्तिपूर्वक यहीं ठहरे रहें, यहाँ से आगे न जाएँ। सुमन्त्र और गुरु वसिष्ठजी को साथ ले मैं ही आगे जाऊँगा।

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूः
निरीक्षमाणाऽपि च धूममग्रतः।
बभूव हृष्टा न चिरेण जानती
प्रियस्य रामस्य समागमं तदा॥ २४॥

भरत के द्वारा नियन्त्रित वह सेना सामने उठते हुए धुएँ को देखकर यह जान गई कि अब प्रिय राम के साथ समागम होने में बहुत विलम्ब नहीं है। इस विचार से सारी सेना हर्षित हो उठी।

◀ सप्तषष्टितमः सर्गः ▶ (६७)

लक्ष्मण का क्रोध—

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवनप्रियः।
वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन्॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्।
भार्याममरसङ्काशः शचीमिव पुरन्दरः॥ २॥

उधर गिरि तथा वन के प्रेमी श्रीराम को उस पर्वत पर रहते हुए बहुत दिन हो चुके थे। एक दिन वे देवतुल्य दशरथनन्दन राम सीता का तथा अपना मन बहलाने के लिए सीता को रम्य चित्रकूट का दर्शन उसी प्रकार करा रहे थे मानो इन्द्र शची को दर्शन करा रहे हों।

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरीनिम्नगाम्।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतया सह राघवः॥ ३॥

पर्वत से निकलनेवाली मन्दाकिनी नदी के शोभा दिखाकर राम सीताजी के साथ पर्वत के शिखर पर बैठ गये।

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ॥ ४॥

जब वे इस प्रकार बैठे थे उसी समय भरत की सेना के चलने से उड़ी हुई, आकाश को स्पर्श करती हुई धूल दिखाई दी और कोलाहल सुनाई दिया।

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथा दुद्रुवुर्दिशः॥ ५॥

इसी बीच उस महाकोलाहल से त्रस्त और विकल यूथपति गजेन्द्र उन्मत्त होकर अपने-अपने यूथों के साथ इधर-उधर भागने लगे।

तांश्च विद्रवतो दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा च निःस्वनम्।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्॥ ६॥

उन गजराजों को भागते देख और सेना का कोलाहल सुनकर श्रीराम ने सुमित्रा के पुत्र तेजस्वी लक्ष्मण से कहा—

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया।
भीमस्तनितगम्भीरस्तुमुलः श्रूयते स्वनः॥ ७॥

हे लक्ष्मण! तुम्हें पाकर सुमित्रा पुत्रवती है। तनिक देखो! यह भयंकर बादल की गड़गड़ाहट जैसा घोर, भयानक और तुमुल शब्द कहाँ सुनाई पड़ रहा है?

स लक्ष्मणः सन्त्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम्।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमुदैक्षत॥ ८॥

श्रीराम की बात सुन लक्ष्मणजी तुरन्त एक फले हुए साल वृक्ष पर चढ़ गये और चारों ओर देखते हुए उन्होंने पूर्व की ओर देखा।

उदङ्मुखः प्रेक्षमानो ददर्श महतीं चमूम्।
रथाश्वगजसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः॥ ९॥

फिर उत्तर दिशा की ओर देखने पर उन्हें उस ओर हाथी, घोड़े, रथ तथा सुसज्जित पैदल सैनिकों से युक्त एक विशाल सेना दिखाई दी।

तामश्वगजसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम्।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत्॥ १०॥

हाथी-घोड़ों से युक्त और रथों पर लगी पताकाओं से सुभूषित उस सेना का वृत्तान्त निवेदन करते हुए लक्ष्मणजी ने श्रीराम से कहा—

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम्।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा॥ ११॥

आप अग्नि बुझा दें, सीताजी गुफा भीतर जा बैठें और आप कवच पहन लीजिए तथा धनुषबाण सँभालिए।

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम्॥ १२॥

यह सुन पुरुषसिंह राम ने लक्ष्मणजी से कहा—हे वत्स सौमित्र! ध्वज-चिह्नों को ध्यान से देखकर यह बताओ तुम इसे किसकी सेना समझते हो?

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा॥ १३॥

श्रीराम के ऐसा कहने पर, लक्ष्मण अपने क्रोध से अग्नि के समान, मानो उस सेना को भस्म कर डालने की इच्छा करते हुए बोले—

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥ १४॥

स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि अभिषेक के पश्चात् निष्कण्टक राज्य पाने के लिए कैकेयी का पुत्र भरत हम दोनों का वध करने के लिए आ रहा है।

गृहीत धनुषौ चावां गिरिं वीर श्रयावहे।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महमत्॥ १५॥

हे वीर! धनुष-बाण लेकर हम पर्वत का आश्रय लें। जिस भरत के कारण हम पर विपत्ति आई है आज उसे हम देख लेंगे।

भरतस्य वधे दोषं न हि पश्यामि राघव।
पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते॥ १६॥

हे राघव! मुझे तो भरत के मार डालने में कोई दोष दिखाई नहीं देता। पूर्व अपकारी को मारने से कोई पाप भी नहीं लगता।

पूर्वापकारी भरतस्त्यक्तधर्मश्च राघव।
एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुन्धराम्॥ १७॥

भरत ने पहले अनिष्ट किया है और यह धर्म को

त्याग चुका है, अतः इसका वध करके आप सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य का उपभोग कीजिए।

अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राजकामुका।
मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम्॥ १८॥

जैसे हाथी वृक्ष को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार राज्यकामुक कैकेयी आज मेरे द्वारा रण में आहत अपने पुत्र को दुःखी होकर देखे।

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम्।
कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम्॥ १९॥

मैं उस कैकेयी को भी उसके भाई-बन्दों और मन्थरा आदि दासियों सहित मार डालूँगा जिससे यह पृथिवी कैकेयी रूपी महापाप से छुटकारा पा जाए।

अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद।
मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम्॥ २०॥

हे मानद! आज बहुत दिनों से रोके हुए क्रोध को और कैकेयी के किये हुए तिरस्कार को मैं शत्रु की सेना पर वैसे ही छोड़ूँगा जैसे सूखे तृणों के ढेर पर आग छोड़ी जाती है।

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मि महामृधे।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः॥ २१॥

आज मैं इस महासंग्राम में सेनासहित भरत का वध कर अपने धनुष और बाण के ऋण से निःसन्देह उऋण हो जाऊँगा।

◀ अष्टषष्टितमः सर्गः ▶ (६८)

राम द्वारा भरत के गुणों की प्रशंसा—

सुसंरब्धं तु सौमित्रिं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम्।
रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत्॥ १॥

युद्ध के लिए उद्यत तथा क्रोध से परिपूर्ण लक्ष्मण को शान्त करने के लिए श्रीराम ने कहा—

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा।
महेष्वासे महाप्राज्ञे भरते स्वयमागते॥ २॥

हे लक्ष्मण! महा धनुर्धारी और महापण्डित भरत के स्वयं आने पर धनुष, ढाल और तलवार से क्या प्रयोजन? [तुम उनसे जीत नहीं सकते।]

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतामागतम्।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण॥ ३॥

हे लक्ष्मण! पिताजी की आज्ञा-पालन की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् भरत का वध करके मैं लोकनिन्दा से युक्त राज्य को लेकर क्या करूँगा?

यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत्।
नाहं तत्प्रतिगृह्णीयां भक्षान् विषकृतानिव॥ ४॥

बन्धु-बान्धवों और इष्ट-मित्रों का वध करने से जो धन प्राप्त हो मैं उसे ग्रहण नहीं कर सकता। मैं तो उसे विष मिले हुए भोजन के समान त्याज्य समझता हूँ।

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते॥ ५॥

हे लक्ष्मण! मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम और पृथिवी को मैं अपने भाइयों के लिए ही चाहता हूँ।

भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥ ६॥

हे लक्ष्मण! मैं अपने हथियारों का स्पर्श कर सत्य-सत्य कहता हूँ कि मैं राज्य की कामना भी भाइयों के पालन और सुख के लिए ही करता हूँ।

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा।
न हीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण॥ ७॥

हे सौम्य! समुद्रों से घिरी इस पृथिवी का राज्य हस्तगत करना मेरे लिए दुर्लभ नहीं है, परन्तु लक्ष्मण! मैं अधर्म से तो इन्द्रपद को भी प्राप्त नहीं करना चाहता।

यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी॥ ८॥

हे मानद ! तुम्हारे बिना, भरत के बिना और शत्रुघ्न के बिना मुझे जिस किसी वस्तु से सुख मिला हो अग्नि उसे भस्म कर डाले।

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
ममप्राणात्प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥ ९॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ॥ १०॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥ ११॥

मैं समझता हूँ कि प्राणप्रिय और भ्रातृवत्सल भाई भरत जब ननिहाल से अयोध्या में आये और हमारा तीनों का जटा-वल्कल धारण कर वन में आना सुना तब स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से विकल हो तथा कुल-धर्म (बड़े भाई का राज्याभिषेक) का स्मरण कर हम लोगों से मिलने आया है। उसके यहाँ आने का इसके अतिरिक्त और कोई अभिप्राय नहीं है।

अम्बां च कैकेयीं रुष्य परुषं चाप्रियं वदन्।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः॥ १२॥

बहुत सम्भव है कि भरत माता कैकेयी पर क्रुद्ध हो और उसे कुछ कठोर वचन कह तथा पिताजी को प्रसन्न कर मुझे राज्य देने के लिए आया हो।

प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमिच्छति।
अस्मासु मनसाऽप्येष नाप्रियं किञ्चिदाचरेत्॥ १३॥

यह उचित ही है कि भरत इस समय हमसे मिलने का इच्छुक है, परन्तु यह सम्भव नहीं कि भरत मन से भी हमारा अनिष्ट चिन्तन करे।

विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदानु किम्।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं योऽत्र शङ्कसे॥ १४॥

क्या भरत ने इससे पूर्व कभी तुम्हारा कोई अनिष्ट किया है जो तुम्हें आज उससे इतना भय लग रहा है और उस पर सन्देह हो रहा है।

नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते॥ १५॥

भरत के विषय में तुम्हें ऐसे कठोर और प्रिय वचन नहीं कहने चाहिएँ। अब यदि तुम भरत के बारे में कोई खोटी बात कहोगे या उसका कुछ अहित करोगे तो समझ लो वह सब व्यवहार मेरे प्रति होगा।

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः॥ १६॥

लक्ष्मण ! तनिक सोचो ! कैसी भी विपत्ति हो और कैसी भी स्थिति हो पिता अपने पुत्र का और भाई अपने प्राणप्रिय भाई का वध नहीं कर सकता।

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम्॥ १७॥

यदि तुम राज्यप्राप्ति के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग कर रहे हो तो भरत के आने पर मैं उनसे कहूँगा कि यह राज्य लक्ष्मणजी को दे दो।

उच्यमानोऽपि भरतो मया लक्ष्मण तत्त्वतः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव वक्ष्यति॥ १८॥

हे लक्ष्मण ! मेरे यह कहते ही कि "राज्य इसे दे दो" भरत तुरन्त कहेगा "बहुत अच्छा।"

तथोक्तो धर्मशीलेन भ्राता तस्य हिते रतः।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया॥ १९॥

धर्मशील श्रीराम के ऐसा कहने पर उनके हित में रत लक्ष्मणजी बहुत लज्जित हुए और सिकुड़कर ऐसे हो गये मानो अपने शरीर के अङ्गों में घुसे जाते हों।

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम्॥ २०॥

उनके उस कथन को सुनकर लज्जित हुए लक्ष्मण पुनः बोले—मुझे ऐसा जान पड़ता है कि महाराज दशरथ स्वयं ही आपको देखने आये हैं।

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह।
एष मन्ये महाबाहुरिहस्मान् द्रष्टुमागतः॥ २१॥

लक्ष्मणजी को लज्जित देख, उनकी बात को पुष्ट करते हुए श्रीराम ने कहा—मैं भी समझता हूँ कि महाबाहु दशरथ हमें देखने के लिए यहाँ आये हैं।

स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे।
नागः शत्रुञ्जयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः॥ २२॥

वह देखो! बुद्धिमान् पिताजी का विशालकाय और ऊँचा शत्रुञ्जय नामक हाथी भी सेना के आगे-आगे झूमता हुआ चला आ रहा है।

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकसत्कृतम्।
पितुर्दिव्यं महाबाहे संशयो भवतीह मे॥ २३॥

किन्तु हे महाबाहो! मुझे इस पर पिताजी का लोकोत्तर, दिव्य एवं श्वेत छत्र दिखाई नहीं दे रहा है, अतः मेरे मन में सन्देह-सा हो रहा है।

वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह॥ २४॥
अवतीर्य तु सालाग्रात्तस्मात्स समितिञ्जयः।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः॥ २५॥

हे लक्ष्मण! अब तुम मेरा कहना मानकर वृक्ष से नीचे उतर आओ। जब धर्मात्मा राम ने लक्ष्मण से यह कहा तब युद्धविजयी लक्ष्मणजी उस साल के वृक्ष के उतर और हाथ जोड़कर श्रीराम के समीप एक ओर आकर खड़े हो गये।

नवषष्टितमः सर्गः (६९)

भरत का राम के साथ मिलन—

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्तदा।
जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन्॥ १॥

सेना के ठहर जाने पर, भरतजी उत्सुक हो, शत्रुघ्न को आश्रम आदि दिखाते हुए भाई के दर्शन की कामना से चले।

ऋषिं वसिष्ठं सन्दिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय।
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः॥ २॥

ऋषि वसिष्ठ के पास यह सन्देश भेजकर कि "आप मेरी माताओं को शीघ्र ले आएँ"—गुरुवत्सल भरत शीघ्रता से आगे चले।

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च॥ ३॥

सुमन्त्र भी शत्रुघ्न को भरत के पीछे जाते देख स्वयं शत्रुघ्न के पीछे हो लिये, क्योंकि भरत के समान सुमन्त्र को भी राम-दर्शन की उत्कण्ठा थी।

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम्।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह॥ ४॥

चलते-चलते श्रीमान् भरत ने तपस्वियों के आश्रमों के मध्य स्थित भाई की पर्णकुटी और शयनागार को देखा।

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम्।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम्॥ ५॥

भरतजी एक मुहूर्त तक पर्णशाला की बनावट और सजावट को निहारते रहे। तदनन्तर उन्होंने पर्णशाला में बैठे हुए और जटाजूट धारण किये हुए बड़े भाई को देखा।

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् दुःखशोकपरिप्लुतः।
अशक्नुवन्धारयितुं धैर्याद्विचनमब्रवीत्॥ ६॥

श्रीराम को उस अवस्था में बैठे हुए देखकर भरतजी दुःख से व्याकुल हो गये। उस समय उस दुःख के वेग को रोकना कठिन था, फिर भी किसी प्रकार धैर्य धारण कर वे बोले—

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचिताः।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम्॥ ७॥

हा! मेरे ही कारण सुख भोगनेवाले राम यह कष्ट भोग रहे हैं। मुझ नृशंस के लोकनिन्दित जीवन को धिक्कार है।

इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः।
पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन्॥ ८॥

इस प्रकार विलाप करते हुए शोकसन्तप्त भरत का मुखकमल पसीने से तर हो गया। उन्होंने चाहा

कि दौड़कर श्रीराम के चरणों में गिरूँ, किन्तु वहाँ तक न पहुँच वे रोते हुए बीच में ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः।
उक्त्वार्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन॥ ९॥

उस समय दुःख से सन्तप्त होने के कारण महाबली राजकुमार भरत केवल एक बार दीनता- पूर्वक 'आर्य' शब्द का उच्चारण कर, फिर कुछ न कह सके।

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ स समालिङ्ग्य रामश्चाश्रूण्यवर्तयत्॥ १०॥

रोते हुए शत्रुघ्न ने भी श्रीराम के चरणों में प्रणाम किया। तब श्रीराम भी दोनों भाइयों को हृदय से लगा रोने लगे।

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव
समीयतू राजसुतावरण्ये।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च
यथाऽम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम्॥ ११॥

फिर वे राजपुत्र राम-लक्ष्मण सुमन्त्र और गुह से उसी प्रकार मिले जिस प्रकार आकाश में सूर्य और चन्द्र, शुक्र और बृहस्पति से मिलते हैं।

◀ सप्ततितमः सर्गः ▶ (७०)

राजनीति विषयक उपदेश—

भ्रातरं भरतं रामो विवर्णवदनं कृशम्।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य पर्यपृच्छत्समाहितः॥ १॥

विवर्णमुख और कृश भाई भरत को राम ने हृदय से लगाया, फिर उन्हें अपनी गोदी में बिठाकर सावधानतापूर्वक उनसे पूछने लगे—

क्व नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः।
न हि त्वं जीवतस्तस्यवनमागन्तुमर्हसि॥ २॥

हे तात! तुम्हारे पिताजी कहाँ गये जो तुम इस वन में चले आये, क्योंकि उनके जीवित रहते तुम्हारा वन में आना उचित नहीं।

कच्चिद्दशरथो राजा कुशली सत्यसङ्गरः।
राजसूयाश्वमेधानामहर्ता धर्मनिश्चयः॥ ३॥

राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करनेवाले, धर्म में निश्चित बुद्धि रखनेवाले तथा सत्यप्रतिज्ञ महाराज दशरथ स्वस्थ तो हैं?

स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते॥ ४॥

विद्वान्, धर्म कार्यों में तत्पर, महातेजस्वी इक्ष्वाकुवंश के आचार्य—ब्राह्मण वसिष्ठ यथा-योग्य सत्कृत तो होते हैं?

सा तात कच्चित्कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकेयी॥ ५॥

हे तात! माता कौसल्या और सुपुत्रवती माता सुमित्रा तो सुखपूर्वक हैं? परम श्रेष्ठा देवी कैकेयी भी आनन्दपूर्वक तो हैं?

कच्चिद्देवान् पितॄन् भृत्यान् गुरून् पितृसमानपि।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे॥ ६॥

हे तात! तुम देव=विद्वानों, पितर=रक्षकों, नौकरों, गुरुओं और पिता के समान पूज्य बड़े-बूढ़ों, वैद्यों और ब्राह्मणों का सत्कार तो करते हो?

इष्वस्त्रवरसमपन्नमर्थशास्त्रविशारदम्।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे॥ ७॥

हे भाई! तुम बाण और अस्त्रविद्या में निपुण तथा अर्थशास्त्रज्ञ=नीति-शास्त्र-विशारद धनुर्वेदाचार्य सुधन्वा का आदर-सत्कार तो करते हो।

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः॥ ८॥
मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव।
सुसंवृतो मन्त्रधरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः॥ ९॥

हे तात! क्या तुमने अपने समान विश्वसनीय वीर, नीतिशास्त्रज्ञ, लोभ में न फँसनेवाले, प्रामाणिक कुलोत्पन्न और संकेत को समझनेवाले व्यक्तियों को मन्त्री बनाया है? क्योंकि हे राघव! मन्त्रणा को धारण करनेवाले नीतिशास्त्रविशारद सचिवों के द्वारा गुप्त रखी हुई मन्त्रणा ही राजाओं की विजय का मूल होती है।

कच्चिन्निद्रावशं नैषीः कच्चित्काले प्रबुध्यसे।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम्[१] ॥ १० ॥

तुम निद्रा के वशीभूत तो नहीं होते? यथासमय उठ तो जाते हो तथा रात्रि के पिछले प्रहर में अर्थ की प्राप्ति के उपायों का चिन्तन तो करते हो?

कच्चिन् मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ ११ ॥

तुम अकेले तो किसी बात का निर्णय नहीं कर लेते अथवा तुम बहुत-से लोगों में बैठकर तो विचार-विमर्श नहीं करते? तुम्हारा विचार कार्यरूप में परिणत होने से पूर्व दूसरे राजाओं को विदित तो नहीं हो जाता?

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः।
त्वया वा तव वाऽमात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ १२ ॥

मन्त्रियों के साथ किये गये तुम्हारे अकथित निश्चयों को दूसरे लोग तर्क और युक्तियों से जान तो नहीं लेते? और तुम वा तुम्हारे मन्त्री अन्यों के गुप्त रहस्यों को जान लेते हो न?

कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न दीर्घयसि राघव ॥ १३ ॥

हे भरत! अल्प प्रयास से सिद्ध होनेवाले और महान् फल देनेवाले कार्य को करने का निश्चय कर तुम उसे शीघ्र आरम्भ कर देते हो न? उसे पूर्ण करने में विलम्ब तो नहीं करते?

कच्चित्सहस्रान् मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥ १४ ॥

तुम हजार मूर्खों की अपेक्षा एक बुद्धिमान् परामर्शदाता को रखना अच्छा समझते हो न? क्योंकि संकट के समय बुद्धिमान् व्यक्ति महान् कल्याण करता है।

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः।
जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ १५ ॥

हे तात! तुम उत्तम नौकरों को उत्तम कार्यों में, मध्यम नौकरों को मध्यम कार्यों में और साधारण नौकरों को साधारण कार्यों में लगाते हो न?

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन्।
श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ १६ ॥

क्या तुम धर्म-अर्थ-काम में सुपरीक्षित, कुल परम्परा से प्राप्त, पवित्र और श्रेष्ठ मन्त्रियों को श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो?

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजितप्रजम्।
राष्ट्रं तवानुजानन्ति मन्त्रिणः कैकेयीसुत ॥ १७ ॥

हे कैकेयीनन्दन! तुम्हारे राज्य में उग्रदण्ड से उत्तेजित प्रजा तुम्हारा अथवा तुम्हारे मन्त्रियों का अपमान तो नहीं करती?

कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार स्त्रियाँ पर-स्त्रीगामी पतित पुरुष का तिस्कार करती हैं अथवा जिस प्रकार याजक लोग यज्ञ-कर्म से हीन व्यक्ति का अनादर करते हैं उसी प्रकार कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती?

---

१. महर्षि मनु ने प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर धर्म-अर्थ चिन्तन का विधान किया है—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

—मनु० ४।९२

मनुष्य को चाहिए कि रात्रि के चौथे प्रहर में उठे उठकर धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों—उनके कारणों और वेद के रहस्य का चिन्तन करें।

उपाय कुशलं वैद्यं भृत्यं संदूषणे रतम्।
शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति स वध्यते॥ १९॥

जो राजा साम आदि कूटनीति-विशारद वैद्य को, सज्जनों में दोष लगानेवाले नौकर को और ऐश्वर्य के अभिलाषी शूर को नहीं मारता वह स्वयं मारा जाता है। (तुम कहीं ऐसे लोगों को तो अपने पास नहीं रखते।)

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमान् शुचिः।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः॥ २०॥

हे भरत! क्या तुमने व्यवहारकुशल, शूर, बुद्धिमान्, धीर, पवित्र, कुलीन, स्वामिभक्त और कर्मकुशल व्यक्ति को अपना सेनापति बनाया है।

बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः॥ २१॥

तुम्हारी सेना में जो अत्यन्त बलवान्, युद्धविद्या में निपुण, सुपरीक्षित और पराक्रमी सैनिक हैं तुम उन्हें पुरस्कृत कर सम्मानित करते हो या नहीं?

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे॥ २२॥

तुम सेना के लोगों को कार्यानुरूप भोजन और वेतन जो उचित परिमाण में और उचित काल में देना चाहिए उसे यथासमय देने में विलम्ब तो नहीं करते?

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः।
भर्तुः कुप्यन्ति दुष्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः॥ २३॥

भोजन और वेतन ठीक समय पर न मिलने से नौकर लोग क्रुद्ध होते हैं और स्वामी की निन्दा करते हैं। नौकरों का ऐसा करना भारी अनर्थ की बात समझी जाती है।

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु सन्त्यजन्ति समाहिताः॥ २४॥

क्षत्रियकुलप्रसूत मुख्य लोग तुम्हारे प्रति अनुराग तो रखते हैं न? क्या समय आने पर वे तुम्हारे लिए अपने प्राण तक न्योछावर करने को उद्यत रहते हैं?

कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान्।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः॥ २५॥

हे भरत! अपने ही राज्य में उत्पन्न, दूसरों के अभिप्राय को जाननेवाले, समर्थ, प्रत्युत्पन्नमति, यथोक्तवादी=सन्देश को ठीक-ठीक पहुँचानेवाले पण्डित को तुमने अपना दूत बनाया है या नहीं?

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिर विज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥ २६॥

हे भरत! तुम परस्पर अनभिज्ञ तीन-तीन गुप्तचरों के द्वारा अपने राज्य के पन्द्रह तथा पर राज्य के अट्ठारह तीर्थों[1] का हाल जानते रहते हो न?

कच्चिद्व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन॥ २७॥

हे शत्रुसंहारक! पराजित करके अपने राज्य से भगाये हुए शत्रुओं के किसी प्रकार पुनः लौटकर आ जाने पर उनको दुर्बल समझकर कहीं तुम उनकी उपेक्षा तो नहीं करते?

कच्चिन्न लौकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥ २८॥

तुम नास्तिक ब्राह्मणों की संगति तो नहीं करते? अपने को पण्डित समझनेवाले ये मूर्ख धर्मानुष्ठान से

---

१. नीति-शास्त्रों में अट्ठारह तीर्थों के नाम निम्न हैं—
१. मन्त्री २. पुरोहित ३. युवराज ४. सेनापति ५. द्वारपाल ६. अन्तःपुराधिकारी ७. बन्धनगृहाधिकारी (दारोगा जेल) ८. धनाध्यक्ष ९. कार्यनियोजक (राजा की आज्ञानुसार नौकरों को आज्ञा देनेवाला) १०. प्राड्विवाक (वकील) ११. धर्माध्यक्ष १२. नगराध्यक्ष (कोतवाल) १३. राष्ट्रान्तपाल (सीमान्त का अफसर) १४. दण्डपाल (मजिस्ट्रेट) १५. दुर्गपाल १६. वनाध्यक्ष १७. कर ग्रहीता १८. सभ्य।
स्वपक्ष में मन्त्र, पुरोहित और युवराज को छोड़कर पन्द्रह पुरुष बचते हैं।
—हलायुध

लोगों का चित्त हटाकर उन्हें नरक भेजने में बड़े कुशल होते हैं।

विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव॥ २९॥

हे राघव! पापी लोगों से रहित, मेरे पूर्वजों के द्वारा सुरक्षित तथा समृद्ध कोसल देश सुखी तो है?

कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्ष्यजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोको हि सुखमेधते॥ ३०॥

हे तात! कृषि=गोरक्षा आदि में लगे हुए तुम्हारे सब प्रियजन सुखी तो हैं न? व्यवसाय=लेन-देन के कार्य में नियुक्त रहकर ही वैश्य लोग धन-धान्य से युक्त होते हैं न?

तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम्।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः॥ ३१॥

तुम उन लोगों को उनकी इष्ट वस्तु प्रदान कर और उनके अरिष्टों को दूर कर उनका भरण-पोषण तो करते हो? राज्य के निवासियों की रक्षा राजा को धर्मपूर्वक=ईमानदारी से करनी चाहिए।

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि॥ ३२॥

तुम हाथीवाले वनों की रक्षा तो करते हो? जो हथिनियाँ, हाथियों को पकड़वाती हैं, उनका पालन-पोषण तो ठीक रूप से होता है न? हाथियों, हथिनियों और घोड़ों के लाभ से तुम तृप्त तो नहीं होते?

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्याणां विभूषितम्।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे॥ ३३॥

हे राजपुत्र! तुम प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर और सब प्रकार से सुभूषित होकर दोपहर से पहले ही सभा में जाकर प्रजाजनों से मिलते हो या नहीं?

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमे वात्र कारणम्॥ ३४॥

तुम्हारे नौकर निर्भय होकर सदा तुम्हारे सामने तो नहीं चले आते अथवा डर के मारे सदा तुमसे दूर तो नहीं रहते? ये दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं। नौकरों के साथ मध्यम व्यवहार ही उचित है।

कच्चित्सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यायुधोदकैः।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः॥ ३५॥

तुम्हारे सब दुर्ग धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र, शिल्पियों और धनुर्धारियों से परिपूर्ण तो हैं?

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः।
अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव॥ ३६॥

हे राघव! तुम्हारी आय अधिक और व्यय न्यून है न? तुम्हारे कोष का धन अपात्रों=नाच-गानेवालों में तो नहीं लुटाया जाता?

देवतार्थे च पित्रार्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः॥ ३७॥

तुम्हारा धन देव=विद्वान्, पितर=रक्षक वर्ग, अभ्यागत, योद्धा और मित्रों पर ही व्यय होता है न?

कच्चिदार्यो विशुद्धात्माक्षारितश्चोरकर्मणा।
अपृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्बध्यते शुचिः॥ ३८॥

जब विशुद्धात्मा, पवित्र और श्रेष्ठ लोग झूठ, चोरी आदि के अपवाद से दूषित होकर विचारार्थ न्यायालय में उपस्थित किये जाते हैं तब तुम्हारे नीतिशास्त्र-कुशल लोग [सरकारी वकील] उनकी परीक्षा किये [जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किये] बिना, लालच में फँसकर, कहीं उन्हें दण्ड तो नहीं देते?

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ॥ ३९॥

हे नरश्रेष्ठ! जो चोर चोरी करते हुए पकड़ा गया है, जिरह करने पर जिसका चोरी करना सिद्ध हो चुका है, जो चोरी करते देखा गया है और जिसके पास चोरी का सामान मिला है, कहीं उस चोर को घूँस के लोभ से छोड़ तो नहीं दिया जाता?

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्गतस्य च राघव।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः॥ ४०॥

धनी और निर्धन का झगड़ा होने पर तुम्हारे बहुश्रुत मन्त्री लोभरहित होकर दोनों का मुकदमा न्यायपूर्वक

निबटाते हैं या नहीं ?

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यस्त्राणि राघव।
तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ४१ ॥

हे राघव ! मिथ्या अपराधों के कारण दण्डित लोगों को आँखों से गिरनेवाले आँसू अपने भोग-विलास के लिए शासन करनेवाले राजा के पुत्र और पशुओं का नाश कर डालते हैं।

कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यमुख्यांश्च राघव।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे॥ ४२॥

हे राघव ! तुम वृद्ध, बालक, वैद्य और मुखिया लोगों को १. दान=उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करके २. मनसा=उनके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करके ३. वाचा=उनसे आश्वासन-सूचक वचन कहकर—इन तीन प्रकार से तृप्त एवं प्रसन्न तो रखते हो ?

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रतिलोभेन कामेन च न बाधसे॥ ४३ ॥

तुम धर्मानुष्ठान के समय को अर्थोपार्जन में अथवा अर्थोपार्जन के समय को धर्मानुष्ठान में तो नष्ट नहीं कर देते ? अथवा सुखाभिलाषा के लिए कामवासना में फँस अर्थोपार्जन और धर्मानुष्ठान दोनों का समय तो नहीं गँवा देते ?

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतांवर।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् भरत सेवसे॥ ४४॥

हे विजेताओं में श्रेष्ठ एवं काल को जीतनेवाले भरत ! तुम धर्म, अर्थ और काम का विभाग करके सबका यथासमय अनुष्ठान करते हो या नहीं ? (प्रातःकाल सन्ध्या-यज्ञादि कर्म में, मध्याह्न राज-काज में और रात्रि काम के लिए) तुम एक ही काम में तो सारा समय नहीं बिता देते ?

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्॥ ४५॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्॥ ४६॥
मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश॥ ४७॥

हे भरत ! नास्तिकता, असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता (टालमटोल) सज्जनों से न मिलना, आलस्य, इन्द्रियों की परवशता, मन्त्रियों की अवहेलना कर अकेले ही राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार करना, अशुभ-चिन्तकों अथवा उल्टी बात समझानेवाले मूर्खों से परामर्श करना, निश्चित किये हुए कामों को आरम्भ न करना, रहस्यों को प्रकट कर देना, मङ्गल-कृत्यों का त्याग, नीच-ऊँच सबको देख उठ खड़े होना अथवा सब शत्रुओं पर एक साथ आक्रमण—इन चौदह राजदोषों को तो तुमने त्याग दिया है न ?

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव॥ ४८॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम्।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम्॥ ४९॥
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहौ।
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे॥ ५०॥

हे भरत! तुम दशवर्ग,[1] पञ्चवर्ग,[2] चतुर्वर्ग,[3]

---

१. **मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।**
तौर्यत्रिकं वृथाट्यं च कामजो दशको गणः॥
—मनु० ७। ४७

शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, परनिन्दा, स्त्रियों में अत्यधिक आसक्ति, मद्यादि मादक पदार्थों का सेवन, नृत्य, गीत, वाद्य और व्यर्थ इधर-उधर घूमना—ये दश कामज दोष हैं

२. **औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनं तथा।**
इति दुर्गं पञ्चविधं पञ्चवर्ग उदाहृतः॥

जल, पर्वत, वृक्ष, उजाड़ और मरुप्रदेशों में स्थित—पाँच प्रकार के दुर्ग होते हैं।

३. **सामदानं च भेदश्च दण्डश्चेति चतुर्गणः।**
—कामन्दकीय

साम, दाम, भेद और दण्ड—यह चतुर्वर्ग कहलाता है।

सप्तवर्ग,[१] अष्टवर्ग,[२] त्रिवर्ग[३] तीनों विद्याएँ,[४] बुद्धि से इन्द्रियों पर विजय, षड्गुण,[५] देव-मनुष्य सम्बन्धी आपत्तियाँ,[६] राजकृत्य,[७] विंशति वर्ग,[८] प्रकृति[९] तथा मण्डल,[१०] यात्रा-विधान,[११] दण्ड-विधान[१२] और सन्धि-विग्रह[१३]—इन सबको हेय-उपादेयरूप से जानते हो न?

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टैश्चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा।
कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे मिथः॥ ५१॥

हे मतिमान्! तुम नीति-शास्त्र के अनुसार तीन-चार मन्त्रियों को एकत्र कर एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् उनके साथ विचार-विमर्श तो करते हो?

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम्[१४]॥५२॥

क्या तुम अग्निहोत्रादि अनुष्ठान करके वेदाध्ययन को सफल करते हो? दान और भोग में लगाकर क्या तुम अपने धन को सफल करते हो? यथाविधि सन्तानोत्पादन कर क्या तुम अपनी स्त्री को सफल करते हो? तुमने जो शास्त्रश्रवण किया है तदनुसार शील और सदाचारमय जीवन बनाकर क्या तुम अपने शास्त्रश्रवण को चरितार्थ करते हो?

---

१. **स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गकोशौ बलं सुहृत्।**
परस्परोपकारीदं राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते॥
स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, सेना और मित्र—ये राज्य के सात अङ्ग हैं।

२. **पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।**
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥
—मनु० ७।४८
चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, निन्दा, बलात् पर-सम्पत्ति पर अधिकार, कठोर वचन और तीक्ष्ण दण्ड—ये आठ क्रोध से उत्पन्न होनेवाले दोष हैं।

३. धर्म, अर्थ और काम।

४. वेदत्रयी, कृष्यादि वार्ता और नीति।

५. **सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।**
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत् सदा॥
—मनु० ७।१६०
सन्धि=मेल, विग्रह=युद्ध, यान=आक्रमण करना, आसन=स्थिर रहना, द्वैधीभाव=शत्रुओं में फूट डालना, संश्रय=किसी का सहारा लेना—ये छह गुण हैं।

६. **हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा।**
इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं परम्॥
आयुक्तकेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपतिलोभाच्च व्यसनं पञ्चधा भवेत्॥
—कामन्दकीय
अग्नि लगाना, जलप्लावन, व्याधि, दुर्भिक्ष तथा महामारी—ये पाँच दैवी-आपत्तियाँ हैं। अधिकारी, चोर, शत्रु, राजा के कृपापात्र और राजा के लोभ से होनेवाली आपत्तियाँ मानुष आपत्तियाँ कहलाती हैं।

७. शत्रु के अपलब्ध वेतन, निरादृत, कोपित तथा भयभीत व्यक्तियों को अपने पक्ष में कर लेना।

८. बालक, वृद्ध, दीर्घरोगी, जाति-बहिष्कृत, भीरु, भीरु मन्त्री आदिवाला, लोभी, लोभी जनोंवाला, विरक्त, इन्द्रीय-लोलुप, अस्थिर बुद्धि, देव-ब्राह्मण-निन्दक, अभिशप्त, पुरुषार्थहीन, दुर्भिक्षपीड़ित, बहु-रिपु, प्रवासी, सेनाविहीन, यथासमय काम न करनेवाला और सत्यधर्म पर दृढ़ न रहनेवाला—इन बीस पुरुषों से सन्धि न करे।
—कामन्दकीय

९. अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्ड।

१०. मध्य में विजय का इच्छुक राजा, उसके सामने पाँच, पीछे चार तथा पार्श्व में दो व्यक्ति—इस प्रकार बीस मण्डल होते हैं।

११. विग्रह, सन्धि, सम्भूय, प्रसङ्ग और उपेक्ष्य—यान पाँच प्रकार का होता है। —कामन्दकीय

१२. सेना की व्यूह-रचना।

१३. षड्गुणोक्त द्वैधीभाव-संश्रय सन्धि के अन्तर्गत और यान-आसन विग्रह के अन्तर्गत आ जाते हैं।

१४. महाभारत में लिखा है—
अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम्।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम्॥
—महा० आदि० ५।११३

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि॥ ५३॥

हे भरत! तुम स्वादु पदार्थों को अकेले ही तो नहीं खा लेते? खाते समय यदि मित्र उपस्थित हों तो उन्हें देकर खाते हो न?

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महामतिर्दण्डधरः प्रजानाम्।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-
दितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान्॥ ५४॥

देखो! इस प्रकार धर्मानुकूल दण्ड धारण करनेवाला नीतिज्ञ राजा प्रजा का पालन करके सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी हो मरने के पश्चात् स्वर्ग=सुख विशेष, उत्तम जन्म को प्राप्त करता है।

विशेष—यह अध्याय 'कच्चित् अध्याय' कहलाता है। इस अध्याय में परमराजनीतिज्ञ मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम ने भरत की वैदिक-राजनीति एवं राजा द्वारा अनुष्ठेय आचरण का उपदेश अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक रूप में दिया है। यह है हमारे भारत की गौरवमयी प्राचीन राजनीति।

➤ एकसप्ततितमः सर्गः ➤ (७१)

पिता का परलोकगमन सुन राम का शोक—

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह।
किं मे धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति॥ १॥

श्रीराम के इस राजनीति से परिपूर्ण उपदेश को सुनकर भरत बोले—परम्परागत अपने कुल की मर्यादा को छोड़नवाले धर्महीन मेरे लिए राजधर्म का उपदेश किस काम का?

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजन् न कनीयान्नृपो भवेत्॥ २॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! हमारे कुल में तो यही सनातन नियम चला आता है कि ज्येष्ठ पुत्र के समक्ष छोटा पुत्र राजा नहीं होता।

ससमृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव।
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः॥ ३॥

अतः हे राघव! आप मेरे साथ धन-धान्य से समृद्ध अयोध्या नगरी में चलिए और अपना राज्याभिषेक करवा कर हमारे कुल का कल्याण कीजिए।

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते।
दिवमार्यो गतो राजा यायजूकः सतां मतः॥ ४॥

हे भाई! जब मैं केकयदेश (अपनी ननिहाल) में था और आप वन में चले आये थे तब सज्जनों से प्रशंसित और अश्वमेधादि यज्ञ करनेवाले पिताजी स्वर्गवासी हो गये।

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात्॥ ५॥

सीता और लक्ष्मणसहित आपके अयोध्या छोड़ते ही, महाराज दुःख और शोक से सन्तप्त होकर स्वर्गवासी हो गये।

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम्।
राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः॥ ६॥

भरतजी के मुख से पिताजी की करुणापूर्ण मृत्यु का समाचार सुनकर श्रीराम मूर्च्छित हो गये।

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामास्रमुत्सृजन्।
उपाक्रमत काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम्॥ ७॥

जलसिञ्चन आदि क्रिया के द्वारा सचेत होने पर आँखों में आँसू बहाते हुए श्रीराम बहुत करुणापूर्ण विलाप करने लगे।

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति॥ ८॥

जब पिताजी का ही देहान्त हो गया तब मैं अयोध्या जाकर ही क्या करूँगा? राजाओं के मुकुटमणि महाराज

के बिना अब अयोध्या का शासन कौन करेगा ?

किन्तु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः।
यो मृतो मम शोकेन मया चापि न संस्कृतः॥ ९॥

मुझ जैसे अभागे पुत्र से उन महात्मा का क्या प्रयोजन ? वे मेरे वियोगजन्य शोक में मृत्यु को प्राप्त हुए और मैं उनका अन्तिम-संस्कार भी न कर सका।

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः॥ १०॥

हे निष्पाप भरत! तुम बहुत भाग्यशाली हो। तुमने और शत्रुघ्न ने पिताजी के सम्पूर्ण अन्त्येष्टि-कर्म तो कर लिये।

एवमुक्त्वा स भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः।
उवाच शोकसन्तप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम्॥ ११॥

शोक से व्याकुल श्रीराम भरत से ऐसा कहकर, फिर सीता की ओर मुख करके पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश मुखवाली सीताजी से बोले—

सीते मृतस्ते श्वशुरः पित्रा हीनोऽसि लक्ष्मण।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतिम्॥ १२॥

हे सीते! तुम्हारे श्वशुर का देहान्त हो गया। हे लक्ष्मण! तुम पिताविहीन हो गये। महाराज के स्वर्गवास का यह दुःखदायी समाचार भरत ने हमें सुनाया है।

सा सीता श्वशुरं श्रुत्वा स्वर्गलोकगतं नृपम्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामशकन्नेक्षितुं पतिम्॥ १३॥

श्वशुर के परलोकवासी होने का वृत्तान्त सुनकर सीताजी के नेत्र आँसुओं से ऐसे भर गये कि वे अपने पति को भी न देख सकीं।

➤ द्विसप्ततितमः सर्गः ➤ (७२)

माताओं का दर्शन—

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च।
अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः॥ १॥

उधर वसिष्ठजी राम को देखने की अभिलाषा से महाराज दशरथ की रानियों को आगे कर राम-आश्रम की ओर चले।

सर्वभोगैः परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः।
आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः॥ २॥

सब सुखोपयोगी भोज्य पदार्थों से हीन श्रीराम को देखकर शोक-सन्तप्त दुःखी माताएँ अश्रुपात करती हुई उच्चस्वर से रोने लगीं।

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाञ्शुभान्।
मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसङ्गरः॥ ३॥

सत्यप्रतिज्ञ, नरकेसरी श्रीराम ने माताओं को देखते ही उठकर उनके चरण-कमलों का स्पर्श कर प्रणाम किया।

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सा बभूवाग्रतः स्थिता॥ ४॥

दुःखित सीताजी ने भी अपनी सासुओं का चरण-स्पर्श किया, फिर आँखों में आँसू भरकर वह उनके सामने जा खड़ी हुईं।

तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा।
वनवासकृशां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत्॥ ५॥

दुःख से पीड़ित और वनवास के कारण कृश एवं दीन सीता को देवी कौसल्या ने स्वपुत्रीवत् हृदय से लगाकर कहा—

विदेहराजस्य सुता स्नुषा दशरथस्य च।
रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता निर्जने वने॥ ६॥

हा! विदेहराज जनक की पुत्री, महाराज दशरथ की पुत्रवधू तथा यशस्वी राम की धर्मपत्नी सीता—इस निर्जन वन में इस प्रकार कष्ट क्यों भोग रही है ?

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः॥ ७॥

महारानी कौसल्या दुःखी हो इस प्रकार कह रही थीं कि भरत के ज्येष्ठ भ्राता राम ने वसिष्ठजी के पास जा उनके चरण-कमल स्पर्श किये।

पुरोहितस्याग्निसमस्य वै तदा।
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः॥ ८॥

जिस प्रकार इन्द्र अपने गुरु बृहस्पति के चरणों का स्पर्श करते हैं उसी प्रकार तेजस्वी श्रीराम अग्नि के समान देदीप्यमान पुरोहित वसिष्ठ को चरणस्पर्श-पूर्वक प्रणाम कर, उनके साथ आसन पर बैठ गये।

ततो जघन्यं सहितैः समन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च सहैव सैनिकैः।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवान्
उपोपविष्टो भरतस्तदाऽग्रजम्॥ ९॥

श्रीराम और वसिष्ठजी के बैठ जाने के पश्चात् धर्मात्मा भरत भी अपने मन्त्रियों, प्रजा के मुखियों, सेनापतियों और अन्य धर्मात्माओं के साथ राम के पास ही उनसे कुछ नीचे स्थान पर बैठ गये।

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजुरध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः॥ १०॥

उस समय सत्यव्रतधारी श्रीराम, महानुभाव लक्ष्मण और धर्मात्मा भरत अपने नगरवासी सुहृदों से घिरे हुए इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे जैसे यज्ञ में ऋत्विजों के साथ अग्नित्रय (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) शोभा को प्राप्त होती हैं।

◀ त्रिसप्ततितमः सर्गः ▶ (७३)

राम-भरत संवाद—

तं तु रामः समाज्ञाय भ्रातरं गुरुवत्सलम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ १॥

श्रीराम भरत को अपने में अत्यन्त भक्तिमान् जानकर, लक्ष्मणसहित उनसे पूछने लगे—

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया।
यस्मात्त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी॥ २॥

हे भरत! मैं तुम्हारे मुखारविन्द से यह सुनना चाहता हूँ कि चीर-जटा और मृगचर्म धारण कर तुम इस वन-प्रदेश में क्यों आये हो?

इत्युक्तः कैकेयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना।
प्रगृह्य बलवद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ३॥

महात्मा श्रीराम ने जब कैकेयीपुत्र भरत से इस प्रकार पूछा, तब भरत बड़ी कठिनता से शोक के वेग को रोककर और हाथ जोड़कर बोले—

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः॥ ४॥

हे आर्य! महाबाहु पिताजी कैकेयी की प्रेरणा से आपको वन में भेजने रूपी कठोर कर्म को कर पुत्रशोक से विकल होकर स्वर्ग सिधार गये।

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परन्तप।
चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम्॥ ५॥

हे शत्रुतापी! पिताजी ने यह दुष्कर्म कैकेयी की प्रेरणा से किया था। मेरी माता ने अपने यश को नष्ट करनेवाला यह महापाप कर डाला है।

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्षिता।
पतिष्यति महाघोरे निरये जननी मम॥ ६॥

मेरी माता को राज्यरूपी फल तो नहीं मिला। वह विधवा हो गयी और शोक से पीड़ित होकर घोर नरक में गिरेगी।

तस्य मे दासभूतस्य **प्रसादं कर्तुमर्हसि।**
अभिषिञ्चस्व **चाद्यैव राज्येन मघवानिव॥ ७॥**

यद्यपि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ, परन्तु आपका अनन्य दास हूँ, अतः आप मुझ पर प्रसन्न होकर आज ही अपना राज्याभिषेक करावें और इन्द्र के समान राजसिंहासन पर आसीन हों।

इमाः प्रकृतयः **सर्वा विधवा मातरश्च याः।**
त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः **प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ ८॥**

देखिए! अयोध्या की सारी प्रजा और ये विधवा माताएँ आपके पास आई हुई हैं, आप इन पर कृपा करें।

तदानुपूर्व्या **युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद।**
राज्यं प्राप्नुहि **धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु॥ ९॥**

हे मानद! ज्येष्ठानुक्रम-अनुसार यह सम्पूर्ण राज्य आपका ही है। आपका ही राज्यसिंहासन पर बैठना उचित है। धर्मानुसार आप इस राज्यभार को ग्रहण कीजिए और सुहृज्जनों की कामनाएँ पूर्ण कीजिए।

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ १०॥

मैं मन्त्रियों सहित सिर झुकाकर आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ—आप अपने भाई, दास और शिष्य पर कृपा करें।

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकेयीसुतः।
रामस्य शिरसा पादौ जग्राह विधिवत्पुनः॥ ११॥

ऐसा कहकर महाबाहु कैकेयीनन्दन भरतजी ने आँखों में आँसू भरकर पुनः श्रीराम के चरणों में अपना सिर झुका दिया।

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
भ्रातरं भरतं रामः **परिष्वज्येदमब्रवीत्॥ १२॥**

तब राम ने भरत को, जो बार-बार मतवाले हाथी की भाँति लम्बी-लम्बी साँस ले रहे थे, हृदय से लगाकर कहा—

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः।
राज्यहेतोः **कथं पापमाचरेद्मद्विधो जनः॥ १३॥**

हे भरत! सम्भ्रान्त कुल में उत्पन्न, सत्त्वगुण सम्पन्न, तेजस्वी और व्रतचारी मेरे जैसा व्यक्ति राज्य के लिए इस प्रकार का पाप कैसे कर सकता है?

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन।
न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि॥ १४॥

हे शत्रुनाशक! मुझे तो तुममें कोई भी दोष नहीं दिखाई देता। बाल-स्वभाववश तुम्हें माता की निन्दा भी नहीं करनी चाहिए।

कामकारो महाप्रज्ञ गुरूणां सर्वदाऽनघ।
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते॥ १५॥

हे पापरहित! महाप्राज्ञ! सदा स्मरण रखो, पिता आदि गुरुजनों का अपने आश्रित शिष्य, दास, स्त्री और पुत्र पर सदा से पूर्ण अधिकार माना गया है, अतः वे उनके साथ जैसा चाहें वैसा व्यवहार कर सकते हैं।

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम्।
राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः॥ १६॥

हे सौम्य! महाराज को यह पूर्ण अधिकार है कि वे चाहे हमें चीर-वसन पहनाकर और मृगछाला धारण कराकर वन में भेजें अथवा राज्यकार्य में नियुक्त करें।

यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरवं लोकसत्कृतम्।
तावद्धर्मभृतांश्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम्॥ १७॥

हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ! सन्तानों को जितना और जैसा आदर-सत्कार लोकपूजित पिता का करना चाहिए उतना और वैसा ही आदर-सत्कार माता का भी करना चाहिए।

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे॥ १८॥

हे भरत! जब धर्मशीला माता और पिता ने मुझे वन जाने का आदेश दे दिया तब मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघनरूप विपरीत कर्म कैसे कर सकता हूँ?

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम्।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा॥ १९॥

हे भरत! तुम अयोध्या में जाकर लोकप्रशंसित

राजसिंहासन पर बैठो और मैं वल्कल-वस्त्र धारण कर दण्डक वन में वास करूँगा।

≺ चतुःसप्ततितमः सर्गः ≻ (७४)

राम का कथन—

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः।
शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत॥ १॥

शुभचिन्तक बन्धु-बान्धवों और मित्रमण्डल से घिरे हुए नर-शारदूल उन राजकुमारों की वह सारी रात सोच-ही-सोच में दुःखपूर्वक व्यतीत हो गई।

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः।
मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन्॥ २॥

प्रातःकाल होने पर बन्धु-बान्धवोंसहित भरत आदि सभी भाइयों ने मन्दाकिनी नदी पर जा स्नान, सन्ध्या और यज्ञ आदि नित्य-कर्म किये। तदनन्तर वे सब राम के समीप लौट आये।

तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत्।
भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत्॥ ३॥

वे सबके सब चुपचाप बैठे थे, कोई किसी से कुछ बातचीत नहीं करता था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था कि इतने में शुभचिन्तकों के मध्य में विराजमान भरतजी ने श्रीराम से कहा—

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद्ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्॥ ४॥

हे भाई! पूज्य पिताजी ने जो राज्य, मेरी माता को दे उसे शान्त किया था, वही राज्य माता ने मुझे प्रदान कर दिया है। आपका अपना होने के नाते वही राज्य मैं आपको अर्पण कर रहा हूँ। अब आप इस निष्कण्टक राज्य का उपभोग करो।

गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्त्रिणः।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते॥ ५॥

हे महिपाल! जिस प्रकार घोड़े की और अन्य पक्षी गरुड़ की चाल को नहीं पा सकते उसी प्रकार मैं भी आपके राज्यपालन का सामर्थ्य नहीं पा सकता। [जैसी राज्य-शासन की योग्यता आपमें है वैसी मुझ में नहीं।]

तस्य साध्वित्यमन्यन्त नागरा विविधा जनाः।
भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः॥ ६॥

श्रीराम से भरतजी की, की हुई प्रार्थना को सुनकर भिन्न-भिन्न वर्गों के नगर-निवासियों ने 'साधु! बहुत सुन्दर!' कहकर भरत की बात का अनुमोदन किया।

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम्।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान्॥ ७॥

यशस्वी भरत को दुःखी और विलाप करते हुए देख शुद्धान्तःकरण, व्रती राम उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—

नात्मनः कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतरश्चेतरश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥ ८॥

हे भरत! अपने सुख-दुःख भोग के लिए मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। यह पुरुष परतन्त्र है। कर्मों का यथायोग्य फल देने के लिए परमात्मा इसे इधर-से-उधर खेंचता हुआ नाना नाच नचाया करता है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ ९॥

सभी संग्रहीत वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है, उन्नतिशील जीव का पतन भी अपरिहार्य है। संयोग का अन्त वियोग है, जीवन के पश्चात् मृत्यु भी निश्चित है।

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम्॥ १०॥

जैसे पके हुए फलों को पतन के अतिरिक्त और कोई भय नहीं है ठीक उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्य के लिए मरने के सिवाय और कोई भय नहीं है।

यथाऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वाऽवसीदति।
तथैव सीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः॥ ११॥

जैसे दृढ़ खम्भेवाला गृह स्तम्भ के जीर्ण होने पर धराशायी हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी जरा और मृत्यु के आक्रमण से नष्ट हो जाता है।

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकाकुलम्॥ १२॥

जो रात्रि व्यतीत हो गई वह पुनः लौटकर नहीं आती। यमुना का जो जल एक बार समुद्र में चला गया वह फिर यमुना में वापस नहीं आता।

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः॥ १३॥

दिन और रात प्राणियों की आयु को उसी प्रकार कम करते जाते हैं जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणें जल को सुखा देती हैं।

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च॥ १४॥

हे भरत! तुम अपने लिए (आत्मोद्धार के लिए) चिन्ता करो, दूसरों के लिए क्यों चिन्तित होते हो। चाहे जंगम हो अथवा स्थावर—आयु तो सभी की क्षीण हो रही है।

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥ १५॥

मृत्यु मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है, बहुत दूर जाकर फिर साथ ही लौट आती है।

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्॥ १६॥

जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ गईं, सिर के बाल श्वेत हो गये और मनुष्य जरा से जर्जरित हो गया तब वह किस बल-बूते पर दूसरों पर प्रभुता जमा सकता है।

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥ १७॥

मनुष्य सूर्योदय और सूर्यास्त होने पर आनन्दित एवं हर्षित होते हैं, परन्तु उनकी आयु प्रतिक्षण घट रही है—इस तथ्य को वे अनुभव नहीं करते।

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः॥ १८॥

नई-नई ऋतुओं के आगमन को देखकर मनुष्य प्रसन्नता प्रकट करता है, परन्तु इन ऋतुओं के परिवर्तन से प्राणियों के प्राण क्षीण हो रहे हैं।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन॥ १९॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥ २०॥

जैसे महासमुद्र में लहरों के द्वारा एक काष्ठ दूसरे काष्ठ के साथ मिल जाता है और फिर समय पाकर अलग-अलग हो जाते हैं वैसे ही स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, धन-सम्पत्ति समय से प्राप्त होते हैं, फिर इनका वियोग भी हो जाता हैं, क्योंकि इनका वियोग होना निश्चित है।

नात्र कश्चिद्यथाभावं प्राणी समभिवर्तते।
तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः॥ २१॥

हे भरत! संसार का कोई भी प्राणी जन्म-मृत्यु के विधान का अतिक्रमण नहीं कर सकता। इसीलिए मृत मनुष्य के सम्बन्ध में शोक मनाते हुए भी मनुष्य अपनी मृत्यु को परे धकेलने में असमर्थ है।

यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति॥ २२॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपैतामहो ध्रुवः।
तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥ २३॥

जिस प्रकार मार्ग में जाते हुए यात्रीदल को कोई मार्ग में बैठा हुआ मनुष्य कहे कि मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे आता हूँ उसी प्रकार पहले जानेवाले पिता-पितामहादि जिस मार्ग से गये हैं उसी से हम सबको जाना है, अतः इस अपरिहार्य गति के लिए शोक करने से क्या लाभ?

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वाऽनिवर्तिनः।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः॥ २४॥

जिस प्रकार नदी की धारा आगे ही बढ़ती जाती है, पीछे नहीं लौटती उसी प्रकार आयु को क्षीण होते हुए देखकर अपने-आपको सुख-शान्ति के साधनभूत धर्मकृत्यों में लगाना चाहिए, क्योंकि मानव-जीवन सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए ही मिला है।

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान्।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः॥ २५॥

महाराज दशरथ अश्वमेधादि अनेक प्रकार के यज्ञ कर, नाना प्रकार के भोगों को भोग तथा उत्तम दीर्घायु को प्राप्त कर स्वर्ग सिधारे हैं।

तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हसि।
तद्विधो मद्विधश्चासि श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः॥ २६॥

मेरे और तुम्हारे समान वेद-शास्त्र का ज्ञाता तथा बुद्धिमान् कोई भी ज्ञानी ब्रह्मलोक-विहारी महाराज दशरथ के लिए शोक नहीं कर सकता।

स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम्।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना वदतांवर॥ २७॥

तुम स्वस्थ हो और शोक को त्यागकर अयोध्यापुरी में जाकर निवास करो। हे बोलनेवालों में श्रेष्ठ! पिताजी ने तुम्हें अयोध्यापुरी में स्वतन्त्रतापूर्वक निवास करने की आज्ञा दी है।

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम्॥ २८॥

पुण्यकर्मा पूज्य पिताजी ने जहाँ मेरी नियुक्ति की है तदनुसार वहाँ रहता हुआ मैं भी पिताजी की आज्ञा का पालन करूँगा।

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिन्दम।
तत्त्वयाऽपि सदा मान्यं स वै बन्धुः स नः पिता॥२९॥

हे शत्रुओं का दमन करनेवाले! मेरे लिए उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं है और आपको भी उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। वे हम लोगों के शुभचिन्तक और पिता हैं।

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता॥ ३०॥

हे पुरुषसिंह! जो मनुष्य धार्मिक और दयालु हैं, जिन्हें अपना परलोक बनाने की इच्छा है उन्हें बड़े लोगों की आज्ञा माननी ही चाहिए।

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः॥ ३१॥

हे नरश्रेष्ठ! तुम पिताजी की सत्य प्रतिज्ञा का स्मरण कर अपने मन में अब राजधर्म को स्थापित करो, अर्थात् पिताजी की सत्यप्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए अयोध्या में जाकर राज्य करो।

➤ पञ्चसप्ततितमः सर्गः ➤ (७५)

भरत की प्रार्थना—

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत्।
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः॥ १॥

प्रजावत्सल श्रीराम जब ऐसे सार्थक वचन कहकर मौन हो गये तब धर्मात्मा भरत श्रीराम से अनेक प्रकार की युक्तियों से पूर्ण तथा धर्मसम्मत ये वचन बोले—

को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिन्दम।
न त्वां प्रव्यथयेद्दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत्॥ २॥

हे शत्रुनाशन! तुम्हारे तुल्य इस लोक में दूसरा कौन होगा जिसे न तो दुःख दुःखी कर सकता है और न हर्ष हर्षित कर सकता है।

क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटः क्व च पालनम्।
ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हति॥ ३॥

हे भाई! कहाँ तो यह जनशून्य वनवास और

कहाँ क्षात्रधर्म! कहाँ जटाधारण और कहाँ प्रजा-पालन! आपको इन परस्पर-विरोधी कर्मों का सेवन करना उचित नहीं।

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम्।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम्॥ ४॥

हे महाप्राज्ञ! क्षत्रियों का सर्वप्रथम धर्म यही है कि वह अपना राज्याभिषेक करावें जिससे वह प्रजा का पालन कर सकें।

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि।
धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि॥ ५॥

यदि आप शरीर को कष्ट देनेवाले धर्म का ही आचरण करना चाहते हैं तो आप धर्मानुसार ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट स्वीकार करो।

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम्।
प्राहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि॥ ६॥

हे धर्मज्ञ! धर्मज्ञ लोग चारों आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम बतलाते हैं, फिर इस सर्वोत्तम आश्रम को आप क्यों छोड़ना चाहते हैं?

श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम्।
स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति॥ ७॥

देखिए! क्या विद्या में, क्या पद में और क्या अवस्था में—प्रत्येक दृष्टि से मैं आपके समक्ष बालक हूँ, ऐसी अवस्था में आपके होते हुए मैं पृथिवी का पालन कैसे कर सकता हूँ?

इदं निखिलमाव्यग्रं राज्यं पित्र्यमकण्टकम्।
अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः॥ ८॥

अतः हे धर्मज्ञ! आप पिता के इस सम्पूर्ण, उत्तम एवं निष्कण्टक राज्य का अपने बन्धु-बान्धवोंसहित पालन कीजिए।

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः।
अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यायां पालने व्रज॥ ९॥

मन्त्रों के ज्ञाता (वसिष्ठ आदि) वैदिक मन्त्रों से यहीं आपका राज्याभिषेक करें और आप अभिषिक्त होकर हम लोगों के साथ अयोध्या में राज्य करने के लिए चलें।

आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ।
अद्य तत्रभवन्तं च पितरं च रक्ष किल्बिषात्॥ १०॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! अपने राज्याभिषेक से आप मेरी माता के लोकापवाद को धो डालिए और पूज्य पिताजी को भी पाप से बचाइए।

शिरसा त्वाऽभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि।
बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः॥ ११॥

मैं आपके चरणों में सिर झुकाकर प्रार्थना करता हूँ कि जिस प्रकार जगन्नियन्ता परमात्मा प्राणिमात्र पर दया करता है उसी प्रकार आप मुझ पर और सब भाई-बन्धुओं पर कृपा कीजिए।

अथैतत्पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः।
गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम्॥ १२॥

यदि मेरी इस प्रार्थना की अवहेलना कर आप दूसरे वन में चले जायेंगे तो मैं भी आपके साथ-ही-साथ वन में चलूँगा।

तथा हि रामो भरतेन ताम्यता।
प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्
मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः॥ १३॥

यद्यपि भरतजी दुःखी होकर—गिड़गिड़ाकर और श्रीराम के चरणों में अपना सिर रखकर बार-बार उन्हें मना रहे थे तथापि राम पिताजी की आज्ञापालन में ऐसे कटिबद्ध थे कि वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, अर्थात् उन्होंने अयोध्या लौटना स्वीकार नहीं किया।

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
समं जनो हर्षमवाप दुःखितः।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः॥ १४॥

जो लोग उस समय वहाँ उपस्थित थे वे सब

श्रीराम की अद्भुत विचार-दृढ़ता को देखकर एक ही साथ शोक और हर्ष में निमग्न हो गये। वे दुःखी इसलिए थे कि 'राम अयोध्या नहीं लौट रहे हैं' और हर्षित इसलिए थे कि श्रीराम पिताजी की आज्ञापालन पर अटल हैं।

◄ षट्सप्ततितमः सर्गः ► (७६)

श्रीराम का उत्तर—

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्येऽभिसत्कृतः॥ १॥

जब भरतजी ने पुनः कुछ कहना चाहा तब मानवसमाज में सम्मानित लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीराम ने कहा—

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्[1]॥ २॥

हे भाई! पिताजी ने जब आपकी माता के साथ विवाह किया था उस समय उन्होंने तुम्हारे नानाजी से यह प्रतिज्ञा की थी कि कैकेयी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही राज्यसिंहासन पर आसीन होगा।

दैवासुरे च सङ्ग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः॥ ३॥

इसके अतिरिक्त देवासुर-संग्राम में भी तुम्हारी माता के उपकार से सन्तुष्ट हो, पिताजी ने उन्हें दो वरदान देने के लिए कहा था।

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी॥ ४॥

यशस्विनी एवं सुन्दर वचन बोलनेवाली तुम्हारी माता ने उन दोनों वरों का स्मरण कराते हुए पिताजी को वचनबद्ध कर उनसे दो वर माँगे।

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा।
तौ च राजा तदा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरौ॥ ५॥

हे पुरुषसिंह! कैकेयी ने उन दो वरों में—एक से तुम्हारे लिए राज्य और दूसरे से मेरे लिए वनवास माँगा। प्रतिज्ञाबद्ध महाराज ने दोनों वरों को देना स्वीकार कर लिया।

तेन पित्राऽहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम्॥ ६॥

हे नरश्रेष्ठ! उसी वरदान के कारण पिताजी ने मुझे चौदह वर्ष तक वन में रहने की आज्ञा दी है।

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः॥ ७॥

पिताजी के वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए मैं सीता और लक्ष्मण को साथ ले गर्मी-सर्दी, दुःख-सुख की कुछ भी परवाह न कर इस निर्जन वन में चला आया हूँ।

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात्॥ ८॥

हे राजेन्द्र! आप भी अयोध्या में शीघ्र ही अपना राज्याभिषेक कराकर पिताजी को सत्यवादी बनाओ।

ऋणान् मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय॥ ९॥

हे भरत! मेरी प्रसन्नता के लिए तुम धर्मज्ञ महाराज को ऋण से मुक्त करो और राजसिंहासन पर बैठकर माता कैकेयी को भी प्रसन्न करो।

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः॥ १०॥

पुत्र पिता का पुत्=दुःखरूपी नरक से उद्धार करता

---

१. इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि भरत भी राज्यगद्दी के उत्तराधिकारी थे। मन्थरा कैकेयी के साथ केकयदेश से आई थी। उसे इस बात का पता था, इसीलिए उसने भरत को राज्य दिलाने के लिए कैकेयी को प्रेरित किया था।

है, इसीलिए उसे पुत्र कहते हैं, क्योंकि वह पिता की सब प्रकार से रक्षा करता है।

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरनुरञ्जय।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः॥ ११॥

हे वीर भरत! तुम शत्रुघ्न और सब द्विजातियों-सहित अयोध्या को लौट जाओ और प्रजा का पालन करते हुए उसे आनन्दित करो।

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन्।
आभ्यां तु सहितो राजन् वैदेह्या लक्ष्मणेन च॥ १२॥

हे राजन्! मैं भी सीता और लक्ष्मण को साथ ले अब शीघ्र ही दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा।

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम्।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान्प्रवेक्ष्ये॥ १३॥

हे भरत! तुम मनुष्यों के राजा बनो और मैं वनवासी पशुओं का राजा बनूँगा। तुम प्रसन्नता-पूर्वक अयोध्या नगरी में प्रवेश करो और मैं आनन्दपूर्वक दण्डक वन में प्रवेश करूँगा।

◀ सप्तसप्ततितमः सर्गः ▶ (७७)

राम-जाबालि संवाद—

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः॥ १॥

जब श्रीराम भरत को इस प्रकार समझा रहे थे तब जाबालि नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने उनसे ये धर्मविरुद्ध वचन कहे—

साधु राघव मा भूत्ते बुद्धिरेवं निरर्थिका।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेर्मनस्विनः॥ २॥

वाह महाराज वाह! आप तो श्रेष्ठ बुद्धिवाले ही नहीं, अपितु मनस्वी भी हैं। साधारण अपठित मनुष्यों की भाँति आपकी ऐसी निरर्थक बुद्धि नहीं होनी चाहिए।

कः कस्य पुरुषो बन्धु किमाप्यं कस्य केनचित्।
यदेको जायते जन्तुरेक एव विनश्यति॥ ३॥

भला तनिक सोचो तो सही, संसार में कौन किसका बन्धु है और किसको किसी से क्या लेना है? यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

तस्मात् माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित्॥ ४॥

अतः हे राम! जो व्यक्ति यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है—ऐसा सम्बन्ध मानकर इनमें आसक्त होता है उसे पागल ही समझना चाहिए क्योंकि वस्तुतः संसार में कोई किसी का नहीं है।

यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चित्क्वचिद्वसेत्।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि॥ ५॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः॥ ६॥

जैसे कोई मनुष्य अपने ग्राम से दूसरे ग्राम को जाता हुआ कहीं मार्ग में ठहर जाता है और अगले दिन उस स्थान को छोड़कर फिर चल देता है इसी प्रकार माता-पिता, घर और धन-सम्पत्ति मनुष्य के आवासमात्र हैं, अतः सज्जन लोग इनमें आसक्त नहीं होते।

पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हसि नरोत्तम।
आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम्॥ ७॥

हे नरोत्तम! पिता के समृद्ध राज्य को छोड़, इस कुमार्ग पर जो दुःख देनेवाला, युवावस्था के अयोग्य और बहुविघ्नों से परिपूर्ण है तुम्हें आरूढ़ होना योग्य नहीं है।

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय।
एकवेणीधरा हि त्वां नगरी सम्प्रतीक्षते॥ ८॥

अब तो तुम अयोध्या में चलकर अपना राज्याभिषेक कराओ, क्योंकि प्रोषित भर्तृका (जिस का पति प्रवास में गया हो ऐसी स्त्री) की भाँति अयोध्या नगरी आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम्।
राज्यं त्वं प्रतिगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः॥ ९॥

सज्जनों की बुद्धि का आश्रय लेकर सर्व-जनानुमोदित भरत की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आप अयोध्या के राज्य को ग्रहण कीजिए।

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यवतां वरः।
उवाच परया भक्त्या स्वबुद्ध्या चाविपन्नया॥ १०॥

सत्यपराक्रमी श्रीराम जाबालि की बातों को सुनकर उसके विरोध में अपनी अविचल बुद्धि से विचारे हुए वैदिकधर्म में श्रद्धा उत्पन्न करनेवाले परम सूक्ष्म शास्त्रीय वचन बोले—

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान्।
आकार्यं कार्यसङ्काशमपथ्यं पथ्यसम्मितम्॥ ११॥

आपने मुझे प्रसन्न करने के लिए जो बातें कही हैं वे कर्मरूप में परिणत करने के अयोग्य और पथ्य के रूप में अपथ्य हैं।

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः॥ १२॥

जो मनुष्य मर्यादारहित, पापचरण से युक्त और साधु-सम्मत शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करनेवाला है वह सज्जन पुरुषों में सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता।

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम्॥ १३॥

यह कुलीन है या अकुलीन, वीर है अथवा भीरु, पवित्र है अथवा अपवित्र—इस बात का निर्णय चरित्र ही करता है।

अधर्मं धर्मवेषेण यदीमं लोकसङ्करम्।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम्॥ १४॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः।
बहुमंस्यति मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम्॥ १५॥

लोगों में संकरता बढ़ानेवाले धर्म के वेश में आपके अधार्मिक उपदेश को यदि मैं मान लूँ तो मैं शुभकर्म को त्यागकर वेदविरुद्ध विधिहीन कर्म करने के पाप का भागी बन जाऊँगा, फिर कार्य-अकार्य को जाननेवाला कौन ज्ञानी पुरुष लोक को दूषित करनेवाला आचारहीन मुझको सम्मान की दृष्टि से देखेगा?

कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम्।
अनया वर्तमानो हि वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया॥ १६॥

यदि आपके आदेशानुसार मैं सत्यप्रतिज्ञा-पालनहीन वृत्ति का आचरण करूँ तो फिर ऐसा कौन-सा आचरण रह जायेगा जिसके द्वारा मैं स्वर्ग को प्राप्त कर सकूँगा?

कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः॥ १७॥

यदि आपके उपदेशानुसार मैं स्वच्छन्दचारी हो गया तो सारा संसार भी मेरी देखा-देखी स्वेच्छाचारी हो जायेगा, क्योंकि राजा जैसा आचरण करता है प्रजा भी वैसा ही आचरण करती है।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥ १८॥

सत्य और दयालुता—यह राजाओं का परम्परागत सदाचार है, इसीलिए राज्य सत्यरूप ही कहलाता है। सत्य के आश्रय से ही यह सारा संसार टिका हुआ है।

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परमं गच्छति क्षयम्॥ १९॥

ऋषि और विद्वान् लोग सत्य को ही उत्कृष्ट मानते हैं, क्योंकि सत्यवादी पुरुष ही इस संसार में अक्षय (परान्तकाल तक) मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं।

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यं परो लोके मूलं स्वर्गस्य चोच्यते॥ २०॥

मिथ्यावादी पुरुष से लोग वैसे ही डरते हैं, जैसे सर्प से। संसार में सत्य ही सबसे प्रधान धर्म माना

गया है। स्वर्ग-प्राप्ति का मूल साधन भी सत्य ही है।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्माश्रिता सदा।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥ २१॥

संसार में सत्य ही ईश्वर है। सत्य ही लक्ष्मी=धन-धान्य का निवास है। सत्य ही सुख-शान्ति एवं ऐश्वर्य का मूल है। संसार में सत्य से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है।

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥ २२॥

दान, यज्ञ, हवन, तपश्चर्या द्वारा प्राप्त सारे तप और वेद—ये सब सत्य के आश्रय पर ही ठहरे हुए हैं, अतः सभी को सत्यपरायण होना चाहिए।

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः॥ २३॥

मैं राज्य पाने के लोभ से, मोह के कारण, अज्ञान से अथवा क्रोध के वशवर्ती हो—पिताजी की आज्ञापालनरूपी मर्यादा को नहीं तोड़ सकता, क्योंकि मैं स्वयं भी सत्यप्रतिज्ञ हूँ।

प्रत्यागात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम्।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिमन्यते॥ २४॥

मेरी सम्मति में प्रत्येक प्राणी के लिए सत्य पालनरूपी धर्म सब धर्मों की अपेक्षा प्रधान धर्म है। जिस जटावल्कल धारण रूपी धर्मभार को पूर्वकाल के सत्पुरुष उठा चुके हैं मैं भी उसका अभिनन्दन करता हूँ।

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम्।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः॥ २५॥

आपके बतलाये हुए क्षात्रधर्म को जिसमें धर्म तो नाममात्र का है और अधर्म प्रचुर परिमाण में है, मैं त्याज्य, समझता हूँ, क्योंकि ऐसे अधर्मरूपी धर्म का सेवन तो नीच, निष्ठुर, लोभी और पापी लोग ही किया करते हैं।

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
स्वर्गस्थं चानुपश्यन्ति सत्यमेव भजेत् ततः॥ २६॥

राज्य, कीर्ति, यश और लक्ष्मी ही नहीं, अपितु स्वर्ग भी सत्यवादी पुरुष की ही याचना करते हैं और उसके पीछे दौड़े चले आते हैं, अतः मनुष्य को सदा सत्य ही बोलना चाहिए।

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः॥ २७॥

जब मैं पिताजी के समक्ष वनवास की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ तब उस प्रतिज्ञा को भङ्ग कर मैं भाई भरत की बात कैसे मान सकता हूँ?

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥ २८॥

हे जाबालि! सत्यभाषण, धर्म-पालन, समय पर पराक्रम-प्रदर्शन, प्राणिमात्र पर दया, मधुर भाषण, ब्राह्मण, विद्वान् और अतिथियों का सत्कार—इन कर्मों को सज्जनों ने स्वर्ग=सुख-शान्ति का मार्ग बतलाया है।

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेताः
तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः॥ २९॥

जो सदा धर्मानुष्ठान में तत्पर रहते हैं, जो सत्पुरुषों की संगति करनेवाले हैं, जो तेजस्वी हैं, जो दान देने में अग्रसर होते हैं, जो गुण-गरिमा से युक्त होते हैं, जो अहिंसक और पापरहित होते हैं—ऐसे मुनि लोग ही इस संसार में पूजनीय होते हैं।

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं
रामं महात्मानमदीनसत्त्वम्।
उवाच तथ्यं पुनरास्तिकं च
सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः॥ ३०॥

जब दैन्यरहित श्रीराम ने क्रोध में भरकर जाबालि से ऐसे वचन कहे तब जाबालि विनययुक्त हो यथार्थ, सत्य-सम्मत और आस्तिक वचन बोले—

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं
न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किञ्चन।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं
भवेय काले पुनरेव नास्तिकः॥ ३१॥

हे राम! मैं नास्तिकों जैसी बात नहीं कहता और न मैं स्वयं नास्तिक हूँ 'परलोक आदि कुछ नहीं है'—मेरे कहने का यह भी अभिप्राय नहीं है। मैं तो समय के प्रभाव में पड़कर अथवा समय की स्थिति को देखकर आस्तिक और नास्तिक बन जाता हूँ।

स चापि कालोऽयमुपागतः शनैः
यथा मया नास्तिकवागुदीरिता।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्
प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम्॥ ३२॥

हे राम! यह समय ऐसा ही था कि आपको वापस लौटाने के लिए मुझे नास्तिक जैसे वचन कहने पड़े और अब आपको प्रसन्न करने के लिए आस्तिकपन की बात कह रहा हूँ।

अष्टसप्ततितमः सर्गः (७८)

भरत का प्रायोपवेश और राम का आदेश—

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्॥ १॥

श्रीराम को क्रुद्ध जानकर महर्षि वसिष्ठ ने कहा—हे राम! जाबालि भी प्राणियों के आवागमन को मानते हैं।

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत्।
तद् गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जगन्नृप॥ २॥

आपको लौटाने के लिए ही इन्होंने इस प्रकार की बातें कही हैं, अतः हे नृप! आप इस राज्य को ग्रहण करें और संसार का पालन करें।

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवस्त्रयः।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव॥ ३॥

हे रघुकुलशिरोमणि राम! इस संसार में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य के तीन गुरु होते हैं—पिता, माता और आचार्य।

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते॥ ४॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! माता-पिता तो पुरुष को उत्पन्न करते हैं, शरीर को जन्म देते हैं और आचार्य बुद्धि प्रदान करता है, इसीलिए आचार्य को गुरु कहते हैं।

सोऽहं ते पितुराचार्यस्तव चैव परन्तप।
मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम्॥ ५॥

हे परन्तप! मैं तुम्हारा और तुम्हारे पिता—दोनों का आचार्य हूँ। मेरे वचनों का पालन करते हुए तुम सज्जनों के मार्ग से कभी गिर नहीं सकते।

इमा हि ते परिषदः श्रेणयश्च द्विजातयः।
एषु तात चरन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम्॥ ६॥

हे तात! देखो! ये तुम्हारे बन्धु-बान्धव हैं, ये सभा के सभासद हैं और ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं, इनकी प्रार्थना पर राज्य स्वीकार करने से तुम सज्जनों के मार्ग से पतित नहीं होओगे।

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम्।
अस्यास्तु वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम्॥ ७॥

वृद्धा एवं धर्मशीला अपनी माता की बात की अवज्ञा मत करो। माता की आज्ञानुसार आचरण करने पर तुम्हें कोई भी निन्दित नहीं समझेगा।

भरतस्य वचः कुर्वन्याचमानस्य राघव।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम॥ ८॥

हे सत्यव्रतधारी पराक्रमी राम! देखो! भरत आपसे याचना कर रहा है। इसकी बात माने लेने से आपके आत्मगौरव में कोई कमी नहीं आयेगी।

एवं मधुरमुक्तस्तु गुरुणा राघवः स्वयम्।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः॥ ९॥

जब गुरु वसिष्ठजी ने मधुर शब्दों में इस प्रकार कहा तब नरश्रेष्ठ श्रीराम ने अपने समीप विराजमान गुरुदेव को उत्तर दिया।

यथाशक्तिप्रदानेन स्नापनोच्छादनेन च।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च॥ १०॥
यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम्॥ ११॥

यथाशक्ति भोजन आदि देने, स्नान और शयन आदि का प्रबन्ध करने, मधुर भाषण और सम्यक् लालन-पालन के द्वारा माता-पिता अपने पुत्र पर जो उपकार करते हैं उसका प्रतिकार सन्तान किसी भी प्रकार नहीं कर सकती।

स हि राजा जनयिता पिता दशरथो मम।
आज्ञातं यन्मया तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति॥ १२॥

महाराज दशरथ मुझे जन्म देनेवाले, मेरे पूज्य पिता थे। उन्होंने मुझे जो आज्ञा दी है वह मिथ्या नहीं हो सकती।

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्।
उवाच परमोदारः सूतं परमदुर्मनाः॥ १३॥

श्रीराम के ऐसा कहने पर परम-उदार भरतजी उदास होकर पास ही बैठे सुमन्त्र से बोले—

इह मे स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे।
आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन् मे न प्रसीदति॥ १४॥

हे सारथे। तुम इस चबूतरे पर शीघ्र कुश बिछा दो। मैं आर्य राम के प्रति तब तक सत्याग्रह[1] करूँगा जब तक वे मेरे ऊपर प्रसन्न नहीं हो जाते।

अनाहरो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः।
शेष्ये पुरस्ताच्छालायां यावन्न प्रतियास्यति॥ १५॥

जब तक श्रीराम मेरे साथ लौटकर अयोध्या नहीं चलेंगे तब तक मैं धनहीन ब्राह्मण[2] की भाँति भोजन त्याग कर और मुँह ढककर इस कुटी के द्वार पर पड़ा रहूँगा।

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः।
कुशोत्तरमपुस्थाप्य भूमावेवास्तरत्स्वयम्॥ १६॥

जब सुमन्त्र श्रीराम के मुख की ओर (उनकी अनुमति के लिए) देखने लगे तब भरतजी उदास हो, स्वयं ही कुशा बिछाकर श्रीराम के सामने धरना देकर बैठ गये।

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसि॥ १७॥

(भरत को इस प्रकार धरना देकर बैठे देख) राजर्षियों में श्रेष्ठ, महातेजस्वी श्रीराम ने भरत से कहा—हे भाई मैंने कौन-सा अकार्य किया है जो तुम मेरे विरुद्ध सत्याग्रह कर रहे हो।

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हसि।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने॥ १८॥

ब्राह्मण ही एक करवट से पड़ा हुआ धरना देकर लोगों को बुराई से रोक सकता है। मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रियों के लिए प्रायोपवेशन= सत्याग्रह का विधान नहीं है।

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद्दारुणं व्रतम्।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव॥ १९॥

हे नरकेसरी! तुम इस कठोर व्रत को छोड़कर खड़े हो जाओ। हे रघुकुलशिरोमणि भरत! तुम यहाँ से शीघ्र ही अपनी श्रेष्ठ नगरी अयोध्या को चले

---

१. प्रायः लोगों का विचार है कि सत्याग्रह मि० गाँधी का आविष्कार है, परन्तु उक्त श्लोक से इस धारणा का खण्डन हो जाता है। गाँधीजी से बहुत पूर्व भरतजी ने श्रीराम के विरुद्ध सत्याग्रह किया था।

२. धनहीन ब्राह्मण से महर्षि वाल्मीकि का तात्पर्य ऐसे ब्राह्मण से है जिसने ब्याज के लोभ से अपनी पूँजी किसी महाजन के पास रख दी हो और महाजन बेईमानी करके उसकी सम्पत्ति ही हड़प जाये। ऐसे धनहीन ब्राह्मण के लिए सत्याग्रह के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं रह जाता।

जाओ।

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम्।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ॥ २०॥

इस प्रकार धरना देकर बैठे हुए भरत अपने चारों ओर बैठे हुए पुरवासियों और जनपदवासियों की ओर देखकर बोले—आप सब लोग आर्य राम को क्यों नहीं समझाते?

ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग्वदति राघवः॥ २३॥
एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति।
अत एव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा॥ २२॥

तब पुरवासी और जनपदवासी भरतजी से कहने लगे—हम लोग अच्छी प्रकार जानते हैं कि आप जो कुछ कह रहे हैं वह ठीक कह रहे हैं, परन्तु क्या किया जाये, ये महाभाग श्रीराम अपने पिताजी के आदेश पर दृढ़ हैं। हम लोग इन्हें वापस लौटाने में अपने-आपको असमर्थ पाते हैं।

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत्।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम्॥ २३॥

उन सब लोगों के इन वचनों को सुनकर श्रीराम बोले—हे महाबाहो! अब उठो और क्षत्रियों के अयोग्य सत्याग्रह के कार्य का प्रायश्चित्त करने के लिए आचमन कर मुझे स्पर्श करो। (आगे विवाद न बढ़ाने का संकल्प लो।)

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत्।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः श्रेणयस्तथा॥ २४॥

यह बात सुन भरतजी ने उठकर जल का स्पर्श किया और बोले—हे सभा के सभासदो! हे पुरजनो! हे क्षत्रिय और वैश्यो! मेरी बात सुनो—

न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम्।
आर्यं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम्॥ २५॥

न तो मैंने पिताजी से राज्य माँगा, न ही माताजी से इस प्रकार का कोई परामर्श किया था और न ही परम धर्मात्मा श्रीराम के वनवास के लिए सम्मति दी थी।

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश समा वने॥ २६॥

यदि पिताजी की आज्ञानुसार वनवास करना आवश्यक ही है तो मैं श्रीराम के प्रतिनिधि के रूप में चौदह वर्ष तक वन में रहूँगा।

धर्मात्मा तस्य तथ्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम्॥ २७॥

धर्मात्मा राम भरतजी के इन सत्य वचनों को सुनकर अति विस्मित हुए, फिर पुरजनों और जनपदवासियों की ओर देखकर बोले—

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत्पित्रा जीवता मम।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा॥ २८॥

पिताजी ने अपने जीवन-काल में कोई वस्तु बेच दी या मोल ले ली या धरोहर रख दी—उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना मेरे अथवा भाई भरत के अधिकार से बाहर है।

उपधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम्॥ २९॥

मैं वनवास की प्रतिज्ञापालन में किसी को अपना प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहता, क्योंकि किसी को प्रतिनिधि बनाना निन्दित कर्म है। कैकेयी ने जो कुछ कहा या माँगा वह ठीक ही कहा या माँगा और पिताजी ने जो कुछ किया उत्तम ही किया।

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम्।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि॥ ३०॥

मैं यह जानता हूँ कि भरत बड़े क्षमाशील और गुरुजनों का सत्कार करनेवाले हैं। सत्यव्रतधारी महात्मा भरत में सभी कल्याणकारी गुण विद्यमान हैं। (अतः इनके द्वारा राज्य-शासन होने से कोई हानि नहीं होगी।)

अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः॥ ३१॥

(मैं यह वचन देता हूँ कि) वनवास से लौटने पर मैं अपने धर्मशील भाई के साथ राज्य-शासन का

भार स्वीकार करूँगा।

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं च महीपतिम्॥ ३२॥

हे भरत! माता कैकेयी ने पिताजी से जो वर माँगा था मैंने तदनुसार कार्य किया। तुम भी कैकेयी को दिये गये दूसरे वर के अनुसार राज्यग्रहण कर पिताजी को मिथ्याभाषण के दोष से मुक्त करो।

❮ नवसप्ततितमः सर्गः ❯ (७९)

पादुका-प्रदान—

विस्मिताः सङ्गमं प्रेक्ष्य समवेता महर्षयः।
तौ भ्रातरो महात्मानौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे॥ १॥

वहाँ एकत्र हुए ऋषिगण दोनों भाइयों के उस समागम को देखकर बहुत विस्मित हुए और दोनों भाइयों की प्रशंसा करने लगे—

स धन्यो यस्य पुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।
श्रुत्वा वयं हि संभाषामुभयोः स्पृहयामहे॥ २॥

ये दोनों सदाचारी और धर्मधुरीण जिन महाराज दशरथ के पुत्र हैं वे धन्य हैं। इन दोनों के सम्भाषण को सुनकर हम लोगों की यह इच्छा हो रही है कि हम इन दोनों के वार्तालाप को बारम्बार सुना करें।

ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं [1]दशग्रीववधैषिणः।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः सङ्गता वचः॥ ३॥

फिर रावण के वध के इच्छुक वे ऋषिगण एक स्वर में पुरुषसिंह भरत से बोले—

कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं पितरं यद्यवेक्षसे॥ ४॥

हे महाप्राज्ञ भरत! तुम महान् कुल में उत्पन्न हुए हो। महायशस्वी और शुभचरित्र से युक्त हो। यदि तुम अपने पिता को सत्यवादी और सुखी देखना चाहते हो तो जो कुछ राम कह रहे हैं उसी को स्वीकार करो।

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः॥ ५॥

हम लोगों की यह हार्दिक इच्छा है कि श्रीराम पिताजी के ऋण से अनृण हों, क्योंकि कैकेयी के ऋण से मुक्त होकर ही महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए।

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत्॥ ६॥

ऋषियों द्वारा राम के पक्ष का समर्थन सुनकर, ऋषियों की वाणी से प्रेम करनेवाले भरत का शरीर काँप गया, अतः वे हाथ जोड़कर बोले—

रक्षितुं सुमहद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे।
पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तथा॥ ७॥

हे राम! मैं अकेला न तो इस महान् राज्य की रक्षा और पालन करने का साहस कर सकता हूँ और न आपमें अनुराग रखनेवाले पुरवासियों और जनपदवासियों को प्रसन्न रख सकता हूँ।

ज्ञातयश्च योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः।
त्वामेव प्रतिकाङ्क्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः॥ ८॥

बन्धुवर्ग, सैनिक, इष्ट-मित्र और शुभ-चिन्तक—ये सबके-सब आपके राज्यशासन की उसी प्रकार

१. दशग्रीव का अर्थ यह नहीं है कि रावण के दस गर्दनें थीं। रावण के एक सिर, दो हाथ और दो पैर ही थे। रावण का एक नाम दशानन भी था। कवि लोग अपने काव्य में पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते ही हैं। सिंह का एक नाम पञ्चानन होता है, परन्तु वस्तुतः सिंह का मुख एक ही होता है, पाँच नहीं। ठीक यही बात रावण के सम्बन्ध में भी समझ लें।

प्रतीक्षा करते हैं जैसे कृषक जल बरसानेवाले मेघ की प्रतीक्षा करते हैं।

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि।
शक्तिमानसि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने॥ ९॥

हे महाप्राज्ञ राम! आप इस विस्तृत राज्य को ग्रहण करो और जिसे चाहो उसे राज्यसिंहासन पर बैठा दो, क्योंकि हे रघुकुलशिरोमणि! आप सम्पूर्ण लोक की प्रजा का पालन करने में समर्थ हैं।

इत्युक्त्वा न्यपतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा।
भृशं सम्प्रार्थयामास राममेव प्रियंवदः॥ १०॥

यह कहकर भरतजी अपने भाई के चरणों में गिर पड़े तथा बार-बार प्रिय शब्दों में उनसे राज्य-ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे।

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत्।
आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥ ११॥

चरणों में पड़े हुए भरत को अपनी गोद में बैठाकर श्रीराम बोले—मेरे वनवास के विरुद्ध और राज्यशासन स्वीकार कर किसी अन्य को राज्य सिंहासन पर नियुक्त करने की जो स्वाभाविक और विनम्र बुद्धि तुममें आई है इससे स्पष्ट है कि तुम सम्पूर्ण पृथिवी का शासन अच्छी प्रकार कर सकते हो।

अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्चमन्त्रिभिः।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य सुमहान्त्यपि कारय॥ १२॥

अब तुम राजभक्त प्रधान सचिव और बुद्धिमान् मन्त्रियों के साथ समस्त बड़े-बड़े कार्यों में परामर्श कर राज्य की सुव्यवस्था करो।

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥ १३॥

देखो! भले ही चन्द्रमा चन्द्रिका को छोड़ दे, हिमालय चाहे हिम को छोड़ दे और हो सकता है समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़कर सीमा को लाँघ जाये, परन्तु मैं पिताजी से की हुई अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता।

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥ १४॥

हे तात! तुम्हारी माता ने चाहे तुम्हारे स्नेहवश अथवा लोभवश तुम्हें राज्य दिलाने का जो काम किया है, तुम माता की इस बात को मन में मत रखना और सदा उसके साथ माता के समान व्यवहार करना।

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत्।
तेजसाऽऽदित्यसङ्काशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम्॥ १५॥

सूर्य के समान तेजस्वी और चन्द्रमा के समान प्रियदर्शी श्रीराम के ऐसा कहने पर भरतजी बोले—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥ १६॥

हे आर्य! स्वर्णभूषित इन पादुकाओं पर अपने चरण रखिए, क्योंकि अब ये चरणपादुकाएँ ही सारी प्रजा का योग-क्षेम करेंगी।

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके ह्यवरुह्य च।
प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने॥ १७॥

महातेजस्वी नरकेसरी राम ने उन खड़ाओं पर आरूढ़ होकर और फिर उन्हें पैरों से उतार कर भरत को दे दिया।

स पादुके प्रतिग्राह्य रामं वचनमब्रवीत्।
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥ १८॥

उन पादुकाओं को ग्रहण कर भरतजी ने श्रीराम से कहा—हे वीर रघुनन्दन! मैं भी चौदह वर्ष तक जटा-चीर धारण कर और कन्दमूल-फल खाकर अपना जीवन-निर्वाह करूँगा।

तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन्वै नगराद् बहिः।
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप॥ १९॥

आपके आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ मैं नगर से बाहर बसूँगा। हे परन्तप! आपकी चरण-पादुकाओं को राज्यसिंहासन पर रखकर में राज्यशासन का प्रबन्ध करूँगा।

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम।
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥ २०॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ! यदि चौदहवाँ वर्ष पूर्ण हो जाने पर पहले दिन ही मैंने अयोध्या में आपके दर्शन नहीं किये तो मैं अग्नि में कूदकर भस्म हो जाऊँगा।

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम्।
शत्रुघ्नं च परिष्वज्य भरतं चेदमब्रवीत्॥ २१॥

"बहुत अच्छा" ऐसा कहकर राम ने भरत और शत्रुघ्न को हृदय से लगाया, फिर भरत से बोले—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम।
इत्युक्त्वाऽश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह॥ २२॥

देखो! माता कैकेयी की रक्षा करना, उन पर कभी क्रोध मत करना। हे रघुनन्दन! इसके लिए तुम्हें मेरी और सीता की शपथ है। यह कह और नेत्रों में आँसू भर श्रीराम ने दोनों भाइयों को विदा किया।

❮ अशीतितमः सर्गः ❯ (८०)

भरत की वापसी और नन्दिग्राम में वास—

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नेन समन्वितः॥ १॥

भाई से विदा होकर भरत उन पादुकाओं को सिर पर रखकर प्रसन्न भाव से शत्रुघ्नसहित रथ पर सवार हुए।

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः॥ २॥

दृढव्रती वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि तथा अन्य माननीय मन्त्री भी आगे-आगे चले।

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः॥ ३॥

रमणीय तथा गम्भीर घोष-करनेवाले रथ के द्वारा यात्रा करते हुए महायशस्वी भरत ने शीघ्र ही अयोध्या नगरी में प्रवेश किया।

ततो निक्षिप्य मातॄः स अयोध्यायां दृढव्रतः।
भरतः शोकसन्तप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत्॥ ४॥

अयोध्या में पहुँच कर दृढ़व्रती भरत माताओं की अयोध्या में रहने की सम्यक् व्यवस्था कर, शोक से सन्तप्त होते हुए वसिष्ठ आदि गुरुओं से बोले—

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽद्य वः।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥ ५॥

मैं नन्दीग्राम जाऊँगा। इसके लिए मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ रहकर जैसे-तैसे मैं राम के वियोग के इस दुःख को सहन करूँगा।

एतत् श्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः।
अब्रुवन्मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः॥ ६॥

महात्मा भरत के ऐसे शुभ वचन सुनकर पुरोहित वसिष्ठ और सारे मन्त्री बोले—

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत्॥ ७॥

हे भरत! आपने भ्राता राम के स्नेहवश जो कुछ कहा वह अत्यन्त श्लाघनीय है। क्यों न हो, ये वचन आपके ही मुख से निकलने योग्य हैं।

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे।
आर्यमार्गं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥ ८॥

सर्वदा बन्धु-बान्धवों की रक्षा करनेवाले, भाई के प्रेम में मग्न रहनेवाले तथा निरन्तर सन्मार्ग पर चलनेवाले आप जैसे व्यक्ति के वचनों को कौन नहीं मानेगा?

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलषितं प्रियम्।
अब्रवीत् सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति॥ ९॥

अपने अनुकूल मन्त्रियों के प्रिय वचनों को सुनकर भरतजी ने सारथि सुमन्त्र से कहा—मेरा रथ तैयार करो।

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिवाद्य सः।
आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः॥ १०॥

रथ आ जाने पर प्रसन्नमुख श्रीमान् भरत ने प्रणामपूर्वक सभी माताओं से आज्ञा ली और शत्रुघ्न को साथ लेकर रथ पर आरूढ़ हुए।

आरुह्य च रथं शीघ्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ।
ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः॥ ११॥

शीघ्रतापूर्वक रथ पर सवार हो और मन्त्री तथा पुरोहितों को साथ ले भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई परम प्रसन्न होते हुए वहाँ से चले।

अग्रतो गुरवस्तत्र वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः।
प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतोऽभवत्॥ १२॥

वसिष्ठ आदि पूज्य ब्राह्मण और गुरुओं को आगे कर, सभी लोग पूर्व दिशा की ओर, जिधर नन्दिग्राम था, चल पड़े।

ततस्तु भरतः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः।
अवतीर्य रथात्तूर्णं गुरूनिदमुवाच ह॥ १३॥

शीघ्र ही नन्दिग्राम में प्रवेश कर और रथ से उतर कर भरतजी ने गुरुओं से कहा—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासवत् स्वयम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥ १४॥

यह सम्पूर्ण राज्य मेरे भाई राम ने मुझे न्यास=धरोहर के रूप में सौंपा है, अतः उनकी स्वर्णमण्डित ये चरणपादुकाएँ ही इस राज्य के योगक्षेम का प्रतिपादन करेंगी।

भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः।
अब्रवीद्दुःखसन्तप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम्॥ १५॥

तदनन्तर श्रीराम द्वारा प्रदत्त न्यासरूप उन पादुकाओं को अपने सिर पर रखकर दुःख से सन्तप्त भरत सम्पूर्ण प्रजामण्डल से यह बोले—

भ्रात्रा हि मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति॥ १६॥

भ्राता राम ने प्रेमपूर्वक यह धरोहर मुझे सौंपी है, अतः उनके लौटकर आने तक मैं इस बहुमूल्य न्यास को सुरक्षित रखूँगा।

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम्।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ॥ १७॥

श्रीराम के अयोध्या लौटने पर मैं अपने हाथों से उनके चरणों में ये पादुका पहनाकर, पादुकासहित उनके चरणों के दर्शन करूँगा।

राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवामि च॥ १८॥

न्यासरूपी श्रेष्ठ पादुकाओं को, इस सम्पूर्ण राज्य को और राजधानी अयोध्या को श्रीराम को अर्पित कर, माता के द्वारा लगाये गये अपयशरूपी महान् कलङ्क को मैं धो डालूँगा।

एवं तु विलपन्दीनो भरतः स महायशाः।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह॥ १९॥

महायशस्वी भरत इस प्रकार विलाप कर और दीन-दुःखी हो, नन्दिग्राम में रहकर मन्त्रियों की सहायता से राज्य करने लगे।

स वल्कलजटाधारी मुनिवेशधरः प्रभुः।
नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा॥ २०॥

वीर भरत वल्कल-वस्त्र और जटा धारण कर मुनियों का-सा वेष बनाकर समस्त सेना-सहित नन्दिग्राम में रहने लगे।

➤ एकाशीतितमः सर्गः ➤ (८१)

राक्षसों द्वारा प्रदत्त कष्टों का वर्णन—

प्रतिप्रयाते भरते वसन् रामस्तपोवने।
लक्षयामास सोद्वेगमथौत्सुक्यं तपस्विनाम्॥ १॥

भरत के अयोध्या लौट जाने पर वन में रहते हुए श्रीराम ने ऋषियों में आतङ्क, घबराहट और स्थानान्तरित होने की भावना अनुभव की।

नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः।
अन्योऽन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः कथाः॥ २॥

वे लोग आँखों और भृकुटियों के संकेतों से श्रीराम को लक्ष्य करके, सन्देहयुक्त हो धीरे-धीरे कुछ गुप्त परामर्श किया करते थे।

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि शङ्कितः।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः॥ ३॥

उनकी उस घबराहट और उत्सुकता को देखकर, अपने विषय में शंकित होकर श्रीराम ने हाथ जोड़कर तापसकुल अध्यक्ष से कहा—

न कश्चिद्भगवन् किञ्चत्पूर्ववृत्तमिदं मयि।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः॥ ४॥

भगवन्! क्या पूर्वकालीन मेरे आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि आप लोगों को दिखाई दी है जिससे तपस्वी लोगों के मन में मेरे प्रति विकार उत्पन्न हो गया है।

अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः।
वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम्॥ ५॥

राम के ऐसा कहने पर वह वृद्ध ऋषि जिसका शरीर तप के कारण जीर्ण हो गया था, काँपते हुए-से, सब प्राणियों पर दया करनेवाले श्रीराम से बोले—

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान्॥ ६॥

हे तात! जब से तुम इस आश्रम में आकर रहने लगे हो तभी से राक्षस लोग तपस्वियों को और भी अधिक सताने लगे हैं।

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर्भीषणकैरपि।
नानारूपैर्विरूपैश्च रूपैर्विकृतदर्शनैः॥ ७॥

वे लोग अनेक प्रकार के जुगुप्सित, भयंकर, क्रूर और नाना प्रकार के विकट, विलक्षण और विकराल रूप बनाकर ऋषियों को डराया करते हैं।

अवक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा।
कलशांश्च प्रमृद् नन्ति हवने समुपस्थिते॥ ८॥

जब तपस्वी लोग यज्ञ करने बैठते हैं तब ये राक्षस स्रुवा और यज्ञपात्रों को फेंक देते हैं, अग्नि के ऊपर पानी डालकर उसे बुझा देते हैं तथा कलशों को तोड़-फोड़ डालते हैं।

तत्पुरा राम शारीरामुपहिंसां तपस्विषु।
दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम्॥ ९॥

हे राम! वे दुष्ट राक्षस शारीरिक कष्टों द्वारा ऋषियों की हिंसा करना चाहते हैं, अतः हम लोग इस आश्रम को छोड़ना चाहते हैं।

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम्।
अश्वस्याश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः॥ १०॥

यहाँ से थोड़ी दूर पर कन्द-मूल-फलों से युक्त महर्षि अश्व का एक विचित्र तपोवन है। अपने मुनि-समूह के साथ हम वहीं आश्रय लेंगे।

सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते।
समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते॥ ११॥

हे राम! यदि तुम्हें ठीक जान पड़े तो तुम भी हमारे साथ वहीं चलो। यद्यपि तुम अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, परन्तु यहाँ रहना तुम्हारे लिए क्लेशदायी ही होगा।

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम्।
न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवरोद्धुं समुत्सुकम्॥ १२॥

ऐसा वचन कहते हुए और जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक कुलपति को श्रीराम समझा-बुझाकर भी वह स्थान त्यागने से न रोक सके।

अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम्।
स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह॥ १३॥

वह कुलपति श्रीराम की प्रशंसा कर, उनको समझा-बुझा और उनसे आज्ञा माँग कर, सब तपस्वियों को साथ ले, उस आश्रम को छोड़ दूसरे आश्रम को चले गये।

◀ द्वयशीतितमः सर्गः ▶ (८२)

राम का चित्रकूट से प्रस्थान, सीता को अनसूया का उपदेश तथा सभी का दण्डकवन में प्रवेश—

राघवस्त्वथ यातेषु तपस्विसु विचिन्तयन्।
न तत्रारोचयद् वासं कारणैर्बहुभिस्तदा॥ १॥

ऋषियों के उस आश्रम से चले जाने पर श्रीराम ने बहुत सोच-विचार के पश्चात् अनेक कारणों से वहाँ रहना उचित नहीं समझा।

इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तान् नित्यमनुशोचतः॥ २॥

राम ने सोचा कि इसी स्थान पर भरत से, माताओं से तथा नगरवासियों से मेरी भेंट हुई थी। यहाँ रहने से मुझे बार-बार उनकी स्मृति आती है और वह मुझे शोकाकुल किया करती है।

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः।
हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम्॥ ३॥

विशेषकर महात्मा भरत की सेना के हाथी-घोड़ों के मल-मूत्र करने और उनके द्वारा वनस्पतियों के उपमर्दन हो जाने से यह स्थान रहने योग्य नहीं रहा है।

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति सञ्चिन्त्य राघवः।
प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च सङ्गतः॥ ४॥

इस आश्रम को छोड़कर दूसरे स्थान पर चलना ही ठीक है। ऐसा विचार कर राम ने लक्ष्मण और सीता को साथ ले वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत॥ ५॥

महायशस्वी श्रीराम ने वहाँ से प्रस्थान कर महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुँच कर उन्हें प्रणाम किया। महर्षि अत्रि ने भी उन्हें पुत्रभाव से देखा।

स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम्।
सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत्॥ ६॥

महर्षि अत्रि ने स्वयं उन सबका आतिथ्य किया, फिर लक्ष्मण और महाभागा सीता के प्रति स्नेहदृष्टि प्रदर्शित कर उन्हें सान्त्वना दी।

अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम्।
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः॥ ७॥

तदनन्तर ऋषिश्रेष्ठ अत्रि ने सौभाग्यशालिनी, तपस्विनी और धर्म में निरत अपनी पत्नी अनसूया से कहा—तुम सीताजी को अपने साथ ले जाकर इनका आदर-सत्कार करो।

अभिवाद्य च वैदेही तापसी तामनिन्दिताम्।
बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम्॥ ८॥

प्रसन्नवदना सीताजी ने पवित्र आचरणवाली उस तपस्विनी को प्रणामकर, हाथ जोड़ और प्रसन्न हो उनका कुशल-क्षेम पूछा।

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम्।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद्धृष्टा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे॥ ९॥

धर्मचारिणी और महाभाग्यवती सीताजी को प्रणाम करते देख उसे सान्त्वना देते हुए वृद्धा अनुसूया ने कहा—"हे सीते! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम पतिव्रत धर्म की ओर ध्यान देती हो।"

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानमृद्धिं च मानिनि।
अवरुद्धं वने रामे दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि॥ १०॥

हे मानिनि सीते! तुम्हारे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम अपने सभी बन्धुओं को, उभय कुल के राज्याभिमान और धन-सम्पत्ति को त्यागकर वनवासी राम की अनुगामिनी हुई हो।

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥ ११॥

पति चाहे वन में रहे अथवा नगर में, सुख-सम्पन्न हो या दुःख-ग्रस्त—सब दिशाओं में जिन स्त्रियों को अपना पति ही सर्वप्रिय है, उन्हीं स्त्रियों को कल्याणकारी तथा श्रेष्ठलोकों की प्राप्ति होती है।

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥ १२॥

पति चाहे कठोर स्वभाव का हो अथवा कामी हो या दरिद्र हो, किन्तु श्रेष्ठ स्वभाववाली स्त्रियों के लिए पति ही परम देवता है।

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ १३॥

जब सती-साध्वी अनसूया ने इस प्रकार कहा तब सीताजी उनके कथन का अनुमोदन कर धीरे से कहने लगी—

नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे।
विदितं तु मयाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः॥ १४॥

हे आर्ये! आपका मुझे इस प्रकार का उपदेश देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मैं भी यह जानती हूँ कि स्त्री के लिए पति ही उसका गुरु होता है।

यद्यप्येष भवेद्भर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः।
अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत्॥ १५॥

हे आर्ये! यदि मेरे पति चरित्र से हीन और दरिद्र भी होते तब भी मैं इनके साथ प्रीतिपूर्वक बर्ताव करते हुए इनकी सेवा करती।

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः॥ १६॥

फिर मेरे पति तो श्लाघनीय गुणों से युक्त, दयालु, जितेन्द्रिय, स्थिर प्रेम करनेवाले, धर्मज्ञ और मुझसे माता-पिता की भाँति अत्यन्त प्रेम करनेवाले हैं। उनका तो कहना ही क्या है।

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये तद्धृतं महत्॥ १७॥

इस भयानक निर्जन वन में आते समय मेरी सास कौसल्या ने मुझे जो उपदेश दिया था वह मेरे हृदय-पटल पर अङ्कित है, मैं उसे भूली नहीं हूँ।

पाणिप्रदान काले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ।
अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम्॥ १८॥

मेरे विवाह के समय, यज्ञाग्नि के समक्ष, मेरी माता ने मुझे जो उपदेश दिया था, वह भी मुझे स्मरण है।

नवीकृतं च तत्सर्वं वाक्यैस्ते धर्मचारिणि।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद्विधीयते॥ १९॥

"पति सेवा को छोड़कर स्त्री के लिए दूसरी कोई तपस्या नहीं है"—इत्यादि उपदेश जो मुझे मिले थे, हे धर्मचारिणी! उनको आज आपने पुनः नवीन कर दिया है।

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः।
शिरस्याघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत॥ २०॥

सीताजी की बातों को सुनकर अनसूया अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने सीता का मस्तक सूँघा और उसे हर्षित करते हुए बोलीं—

नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे।
तत्संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिस्मिते॥ २१॥

हे सीते! मैंने अनेक प्रकार के व्रत एवं नियमों का अनुष्ठान कर जो सिद्धि प्राप्त की है वह महान् है। हे शुचिस्मिते! उसी सिद्धि के बल पर मैं तूझे वर देना चाहती हूँ। तू वर माँग।

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया।
कृतमित्यब्रवीत्सीता तपोबलसमन्विताम्॥ २२॥

पतिव्रत धर्म को जाननेवाली सीता अनसूया देवी का यह वचन सुनकर आश्चर्यचकित हो गई, फिर मन्द हास्य करती हुई तपःपरायण अनसूया से सीताजी ने कहा—आपके अनुग्रह से ही मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गईं।

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराऽभवत्।
सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम्॥ २३॥

जनकनन्दिनी सीता के ऐसा कहने पर धर्मचारिणी अनसूया और भी अधिक प्रसन्न हुई और बोली—हे सीते! तुम्हें देखकर मुझे जो हर्ष हुआ है उसके अनुरूप मैं तुम्हें कुछ अवश्य देना चाहती हूँ।

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च।
अङ्गरागं च वैदेहि महार्हं चानुलेपनम्॥ २४॥

हे विदेह राजकुमारी ! यह दिव्य और श्रेष्ठ माला, वस्त्र-आभूषण, अङ्गराग=उबटन और दिव्य चन्दन तुम्हें देती हूँ। इनसे तुम्हारे अङ्ग सुशोभित होंगे।

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा।
मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम्॥ २५॥

सीताजी ने अनसूया द्वारा प्रदत्त वस्त्र, अङ्गराग, आभूषण तथा माला आदि सभी दिव्य वस्तुओं को श्रेष्ठ प्रतिदान=प्रेमोपहार के रूप में प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लिया।

सा तदा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा।
प्रणम्य शिरसा तस्यै रामं त्वभिमुखा ययौ॥ २६॥

उन दिव्य वस्त्रों और अलंकारों को धारण कर सीताजी देवकन्या के समान प्रतीत होने लगी। इस प्रकार समलंकृत हो अनसूया के चरणों में प्रणाम कर सीता श्रीराम के पास चली गई।

ततस्तां शर्वरीं प्रीतः पुण्यां शशिनिभाननः।
अर्चितस्तापसैः सिद्धैरुवास रघुनन्दनः॥ २७॥

तपस्वियों और सिद्धों द्वारा सत्कृत होकर और अनसूया द्वारा प्रदत्त वस्त्राभरणों से सुभूषित चन्द्र-मुखी सीता के प्रति प्रसन्न भाव प्रकट करते हुए उन्होंने वह रात्रि वहीं रहकर बिताई।

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिषिच्य हुताग्निकान्।
आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान् वनगोचरान्॥ २८॥

रात्रि व्यतीत होने पर दोनों नरकेसरियों ने स्नान और सन्ध्योपासन आदि कर्मों और हवन आदि से निवृत्त हो उन ऋषियों से आगे जाने की आज्ञा माँगी।

तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः।
वनस्य तस्य सञ्चारं राक्षसैः समभिप्लुतम्॥ २९॥

धर्मशील वनवासी तपस्वियों ने श्रीराम से कहा—हे राघव ! आगे वन का मार्ग राक्षसों से आक्रान्त है।

उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं धर्मचारिणम्।
अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव॥ ३०॥

वे राक्षस इस महारण्य में जिस किसी ब्रह्मचारी को अकेला या असावधान पाते हैं उसी को मारकर खा जाते हैं, अतः हे राघव ! आप इन दुष्टों को मारें।

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने।
अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम्॥ ३१॥

हे राम ! वन से फल-मूल आदि लाने का महर्षियों का यह मार्ग है। आपको भी इस मार्ग से इस दुर्गम वन में जाना चाहिए।

इतीव तैः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभिर्
द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परन्तपः।
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम्॥ ३२॥

जब तपस्वियों ने हाथ जोड़ और स्वस्तिवाचन=मङ्गल-कामना कर उपर्युक्त वचन कहे तब शत्रु-संतापी श्रीराम ने अपने भाई लक्ष्मण और सीता के साथ उस महावन में उसी प्रकार प्रवेश किया जैसे सूर्य मेघ-मण्डल में प्रवेश करता है।

॥ इति अयोध्याकाण्डम्॥

—o—

अयोध्याकाण्ड एक दृष्टि में—

सर्ग	८२
श्लोक-संख्या	१७९७
टिप्पणियाँ	६३